पुस्तक सं० २-१/४८
ओघ सं० ५२३
गुरुकुल ग्रन्थालय कांगड़ी

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

COMPILED

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः
पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

—:o:—

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी
CHECKED
Initial

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्ता
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितः

—:o:—

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५००
मूल्यम् १)

ओ३म्

॥ आर्य्यमन्तव्यप्रकाश की भूमिका ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" इत्यादि वेद मंत्रों के आशयको भूलकर जिस समय भारतसन्तान अविद्या की उपासना करने लगी, उस आविद्यक समय में वह कौन वस्तु है जो भारतसन्तान का पूजनीय देव नहीं बना, वह कौन वस्तु है जिसके आगे धन जन की प्रार्थना भारतसन्तान ने नहीं की ? "**आयुर्बलं यशोवर्चः प्रजा पशु वसूनि च । ब्रह्म प्रज्ञाञ्च मेधाञ्च त्वञ्नो देहि वनस्पते**" ॥ इत्यादि श्लोकों से आयु, बल, यश, ब्रह्म तेज, और प्रजा पशु धनादि की प्रार्थना वनस्पतियों से की जाती थी। "**वसुधे हेमगर्भासि शेषस्योपरिशायिनी। पूजार्थं देहि मे स्थानं**" इत्यादिकों से, जड़ पृथिवी से प्रार्थना एवं सब वस्तुओं की प्रार्थना आर्य्यसन्तान करती थी।

वैदिक मंत्रार्थ की ऐसी अव्यवस्था थी कि पञ्चदेवों की गायत्री भिन्न २ थी। विष्णुगायत्री, गणेशगायत्री, शिवगायत्री, दुर्गागायत्री, सूर्य्यगायत्री, एवं एक ब्रह्मोपासना विधायक ब्रह्मगायत्री में सैकड़ों भेद करादिये गए थे। "**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" इस मंत्र से नारायण देव की, "**गणानान्त्वागणपति०**" इस से गणेश की, "**त्र्यम्बकं यजामहे**" इस से शिव की, "**अम्बे अम्बालिके**" इससे दुर्गा की, "**आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः**" इससे सूर्य्य की उपासना की जाती थी। उक्त पञ्च देवों की पूजाही

नहीं प्रत्युत "**नमः शम्भवाय च मयोभवाय च**" इत्यादि मंत्रों में वर्णित सर्व को सुख करनेवाले शङ्कर परमात्मा सबके कल्याणकारी की वैदिक मंत्रों से मृण्मय पूजा विधान की जाती थी, "**अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरतरेभ्यः सर्वतः सर्वसर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः स्वाहा**" इत्यादि मन घड़त मंत्र बनाकर मिट्टीके शिवलिङ्ग बनाके पूजे जाते थे। "**ओ३म् तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि, तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्**" "**ओम् महेश्वराय नमः**" इत्यादि मंत्र बनाकर यजुर्वेदीय शिवपूजा विधान की जाती थी, "**शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः**" इत्यादि अथर्ववेदीय मंत्रों को (नः) हमारे पितरों को आप जलसे तृप्त करें, कोई पितृतर्पण में, कोई जड़ जल की उपासना में लगाता था, "**त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः**" इत्यादि सामवेदीय मंत्रों को अग्निपूजा में लगाया जाता था, एवं "**अग्निमीडे पुरोहितं**" इस मंत्र से लेकर सम्पूर्ण ऋग्वेद को अग्न्यादि जड़ देवताओं की पूजामें लगाया जाता था॥

इतना ही नहीं, "**त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्**" विष्णु व्यापक गोपा पृथिवी को पालन करने वाले व्यापक ईश्वर की त्रिपादरूप महिमा को बलि राजा को छलनेवाले पौराणिक ईश्वर में लापन किया जाताथा।

इस घोर मिथ्यार्थ के समय में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सोचा कि यह क्या? कहां "**तद्विष्णोःपरमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" यह वैदिक उच्च सिद्धान्त, जिसमें यह वर्णन किया गया है कि उस विष्णु परमात्मा के (पद) स्वरूप को सदसद् विवेकी विद्वान् ही देख सकते हैं, और कहां यह आधुनिक भारत सन्ता-

न की नीचगति कि कहीं मृण्मय शिव पूजे जाते हैं और "**सर्वाधारधरे देवी त्वद्रूपां मृत्तिकामिमाम् । ग्रहीष्यामि प्रसन्ना त्वं लिङ्गार्थं भवशोभना**" इत्यादि श्लोकों से शिवलिङ्ग निर्म्माण के लिये पृथिवी से मिट्टी लेते समय उक्त प्रार्थना की जाती है कि हे देवी सर्वाधार ! तू इस शिवलिङ्ग के लिये शोभावाली हो । इस महामिथ्यार्थ के समय में उक्त निराकार विष्णुके पदको हृदयमें धारण कर के अन्तर्ध्यान होकर महर्षि ने जब सोचा तो ज्ञात हुआ कि भारतसन्तान की बुद्धिरूपी नौका मिथ्यार्थ सागर में डूब रही है, इस नौका के नेता ऐसे स्वार्थी हैं कि नौका डूबने पर भी यात्रीरूप भारत सन्तान को लूटने कोही तैयार हैं, इस अवस्था में स्वामी दयानन्द ने उन स्वार्थी नाविकों को ललकारा और हृदय में यह धारा कि इस मिथ्यार्थसागर से भारतसन्तान की नौका पार करें। सचमुच ऐसाही हुआ कि उक्त महर्षि के सत्यार्थ व्याख्यान करने पर मिथ्यार्थसागर के बुमड़घेर रूप भँवर से यह नौका तैर निकली, सब लोग अपनी २ जगह सत्यार्थ अनुसन्धान करने लगे, मिथ्या गपोड़े छोड़कर सच्छास्त्रों का मान करने लगे, व्यापक विष्णु के परमपद रूप स्वरूप का ध्यान करने लगे। इस अवस्था को जब मिथ्यार्थ सागर के मगर मच्छों ने देखा कि हमारे आहाररूपी भारतसन्तान की नौका मिथ्यार्थ सागर की लहरों से बच कर चल निकली है तो फिर पूर्ववत् मुख फैला दिये और फिर उस मिथ्यार्थ सागर की लहरों को द्विगुण करने की चेष्टा की गई, इनमें से किसी स्वार्थी ने "महताब दिवाकर" बनाकर महर्षि दयानन्दजी के सत्यार्थों को मिथ्या दोष लगाए, किसीने "सत्यार्थविवेक" नामक पुस्तक बनाकर उक्त मिथ्यार्थ सागर की लहरों को बढ़ाया, किसी ने नाम मात्र का "तिमिरभास्कर" बनाकर उक्त नौका को मिथ्यार्थ

रूप भार से ऐसा भारी किया कि कल डूबती आजही डूबे, किसी ने "अबोधध्वान्त" बनाकर लोगों की आंखों में ऐसी धूल डालने की चेष्टा की ताकि अपने लक्ष्य को नाविक लोग कदापि न देख सकें।

उक्त अज्ञानान्धकारावृत नौका के यात्रियों की इस दशा को देखकर कि "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ गीता० ४। ४०॥

अज्ञानी और श्रद्धारहित लोग नाश को प्राप्त होते हैं और संशयात्मा के लिये तो न यह लोक है और नाहीं परलोक अर्थात् दोनों लोकों से विभ्रष्ट होकर संशयात्मा नाश को प्राप्त हो जाता है। इस तीन प्रकार की भारतसन्तान की दशा को देखकर किसको कष्ट नहीं होता, पर क्या किया जाय, आज कल तो भारत उक्त संशय सागर में ऐसे गोते खा रहा है कि कोई अपने आचार में संशय करता है, कोई व्यवहार में, कहां तक कहा जाय जो एक मात्र संशयान्धतम का उच्छेदक वेद भगवान् सूर्य्य के समान स्वतःप्रकाश था उस वेद को भी, "क्षीराब्धिमथने येन धृतः पृष्ठे महोधरः। देवैरलाभि लब्धानि तस्मै कूर्मात्मनेनमः" ॥ अर्थ-दूध के समुद्र मथन के समय में जिसने मन्दराचल पर्वत को अपनी पीठ पर उठाया और देवताओं ने समुद्र मथन से रत्न लाभ किये ऐसे कूर्म भगवान् को नमस्कार है। ऐसे मन्तव्यों का भण्डार उस वेद को बनाया जाता है, फिर वह वेद संशय सागर क्यों नहो, दूध दधि के समुद्र की बुद्धि हमारे पौराणिक भाइयों को स्यात् संशय उत्पन्न कर सके, पर और कौन सारग्राही ऐसा हो सकता है जो उक्त दूध दही के समुद्रादिकों में प्रकृतिविरुद्ध होने का संशय न करे।

अस्तु, मिथ्यार्थसागर के मगर मच्छों को क्या, यदि भारत संसार

तान की नौका इस मिथ्यार्थ सागर में डूबी तो लाभ ही लाभ है इसी अभिप्राय से वेदों पर ऐसा लिटरेचर लिखते जाते हैं। कोई सहस्रबाहु शब्द वेद में आजाने से उसके शत्रु परशुराम की सिद्ध वेदों से कर लेता है, कोई आकर्षक अर्थ में अथवा धूमार्थ में कृष्ण शब्द वेदों में आजाने से कृष्णावतार सिद्ध कर बैठता है, कोई बराह शब्द आजाने से बराह पुराण का आशय वेदों से निकालता है, कोई कूर्म शब्द से कूर्मावतार पर समुद्र मथन का भार देता है, और उस समय "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा०**" इत्यादि निराकार ईश्वर का सर्वाधार होने का विचार चित्त से सर्वथा उठा देता है। एवं सहस्रों अनर्थ करके वेदों को पौराणिक पहनावा पहराया जाता है, इस मिथ्यार्थातिमिरातिरोहित भारत नौका के यात्रियों के अज्ञानातिमिरविनाशार्थ "**आर्य्य मन्तव्य प्रकाश**" निर्म्माण किया जाता है। जिस के निम्नलिखित आठ समुल्लास हैं:—

प्रथम में—आर्य्यमन्तव्य प्रदर्शन किया गया है कि प्राचीन आर्य्यों के क्या २ मन्तव्य थे।

दूसरे में-अर्थाभास दिखलाया गया है, कि किन२ अर्थाभासों से स्वार्थी लोगों ने स्वार्थ सिद्ध किया है और सायण महीधर के समय में उन मंत्रों के क्या २ अर्थ किये जाते थे।

तीसरे में—मिथ्यार्थ समीक्षण किया है, जिसमें आधुनिक पौराणिक भावों का भली भांति समीक्षण किया गया है।

चौथे में—तर्क का निरीक्षण किया है, इस में जो आजकल पौराणिक भावों के मण्डनार्थ तर्क दिये जाते हैं उनका निरीक्षण किया है और जिन२ तर्कों से निर्विकार ईश्वर को रासलीला विहारलीलादि के दोष लगाए जाते हैं उन मिथ्यातर्कों का खण्डन किया है।

पांचवें में-पौराणिक मन्तव्यों का निरास किया गया है, जिस में आधुनिक सनातनधर्म्मसंस्कारकर्त्ता पण्डित ज्वालाप्रसाद लिखित उन सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है जिनको उन्होंने तिमिर भास्कर में वैदिक सिद्धान्त के नाम से लिखा है। इस समुल्लास में पौराणिक मिथ्यार्थों को सम्यक् दर्शाया गया है और वेद मंत्रों से मिलान करके उनका मिथ्यात्व दिखलाया गया है।

छठे में-स्वमन्तव्यों का प्रकाश किया गया है अर्थात् आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का वेदार्थ से मिलान किया गया है।

सातवें में-उन सब वेदमंत्रों का संग्रह किया गया है, जिनको सतातन धर्म्मी आर्य्यसमाज के प्रतिपक्ष में प्रमाण दिया करते हैं।

अष्टम में-सगुण निर्गुण उपासनाओं का अविरोध निरूपण किया गया है।

एवं आठ समुल्लास उक्त पुस्तक के हैं, जिन में वादीमत के आचार्य्यों के विरोध से, वेद विरुद्धार्थों का खण्डन, परस्पर पौराणिक विरोध से सम्भव असम्भव निर्णायक प्रमाणों से, वेद मंत्रों से सम्यक् रीति से विरुद्ध वादों का खण्डन किया गया है।

उद्देश उक्त मन्तव्यप्रकाश पुस्तक का यह है कि आधुनिक लिटरेचर जो मिथ्यार्थ निशारूपी तिमिर को पैदा कर रहा है, जिस में भारतसन्तान की नौका इस भवसागर के भँवर में है उसके यात्रियों के मन्तव्यरूपी नेत्रों को आच्छादित मिथ्यार्थरूप तिमिर को हटाकर प्राचीन मन्तव्यरूपी प्रकाश से प्रकाशित कर दिया जाय, ताकि—

"वैवस्वतस्य नौकां यः समुद्रे समधारयत्।
वेदोद्धारञ्च कृतवान् तस्मै मत्स्यात्मने नमः॥" जिसने

वैवस्वत मनु की नौका को समुद्र में धारण किया और वेदों का उद्धार किया, उस मत्स्य भगवान् को नमस्कार है। इस पौराणिक भाव को वेदानुकूल सिद्ध करने वालों के अर्थों का मिथ्यात्व दृष्टिगत होनेलगे। जैसा कि ज्वालाप्रसाद भार्गव ने साम भूमिका में "**सक्रन्दनो-ऽनिमिष एक वीरः। शतं सेना अजयत् साकमिद्रः**" इस मन्त्र से मत्स्यावतार सिद्ध किया है। इस मन्त्र में मत्स्य का नाम तक नहीं, फिर मच्छ भगवान् की महिमा की असम्भव कथा वेद में कैसे?

वामनं रूपमास्थाय त्रैलोक्यं विक्रमैःस्वकैः। बलेर्गृहीतं तं बध्वा तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ वामनरूप होकर बली को बांधकर अपने तीन पैर से तीन लोक माप लिये उस ब्राह्मण रूप के लिये नमस्कार है। यह पौराणिक भाव "**इदं विष्णुर्विचक्रमे०**" इस मंत्र से निकाला जाता है जिस में उसी पद का वर्णनहै कि जिस का वर्णन "**तद्विष्णोः परमं पदं**"०इस मन्त्र में आचुकाहै। जिस में पद के अर्थ सब आचार्य्यों ने विष्णु के स्वरुप के माने हैं, फिर इस में वामनावतार के अद्भुत पाद की क्या कथा!।

उक्त वेदविरुद्धभावों के खण्डन का चित्र इस पुस्तक में साफ़२ दर्शादिया गया है। सार यह है कि सत्यार्थ विवेक के कर्त्ता पं० साधुसिंह, अबोधध्वान्तकार स्वामी बालराम, अवतारमीमांसाकार पं० अम्बिकादत्त व्यास भारतरत्न, तिमिरभास्करकार पं० ज्वाला-प्रसाद मिश्र तथा मृतकश्राद्धमण्डन के भण्डार और संशयात्मा के एक मात्र आगार पं० भीमसेन इत्यादि पौराणिक मतवादी वादियों के आक्षेपों के उत्तर इस पुस्तक में दिये गए हैं। अपूर्वता इस पुस्तक में यह है कि सिद्धान्त विषय का अवलम्बन करके इस पुस्तक का लेख है। किसी के जातित्व पर आक्षेप वा किसी के हृदय दुखाने की बात

इस पुस्तक में नहीं। सब सम्प्रदायों के आचार्य्यों तथा पण्डितों के नाम बड़ी प्रतिष्ठा से लिये गए हैं।

अतएव सब सदसद्विवेकियों से प्रार्थना है कि इस आर्य्यमन्तव्य-प्रकाश ग्रंथ को निष्पक्ष होकर प्राचीन आर्य्यमन्तव्यों के विवेक के लिये अवश्य पढ़ें॥

आर्य्यमुनिः

ओ३म्

अथ आर्य्यमन्तव्यप्रदर्शनं नाम प्रथमः समुल्लासः प्रारभ्यते ।

(१) ईश्वर विषयक मन्तव्य ।

वेद

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्ध-म् । कविर्मनीषीपरिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्य-दधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० ४० । ८

अर्थ—वह परमेश्वर सर्व स्थान में प्राप्त है अर्थात् सर्व व्यापक है, बल स्वरूप है, अकाय है, शरीरधारण नहीं करता, अतएव अव्रण विस्फोटक रोग विशेष, और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है, अतएव शुद्ध है, पापस्पर्शादि से रहित है, कवि सर्वज्ञ है, मनीषी मनका नियमन करने वाला है, परिभूः सर्वोपरि है, स्वयम्भूः परसत्ता से रहित स्वयं सबका अधिकरण स्वरूप है, उक्त कूटस्थ नित्य परमात्मा नियत समय में सब संसार को रचता है ॥

यह वैदिक सिद्धान्त प्राचीन आर्य्यों का अटल मन्तव्य था जिस से पतित होकर आजकल की कलियुगी बुद्धिएं "निराकार परमात्मा कैसे संसार रच सकता है" इस संशयरूपी आवर्त्त में पड़कर गोते खा-रही हैं यद्यपि उपनिषत्कार ऋषियों ने उक्त संशयरूपी भंवर से भारत-सन्तान की नौका पार करदीथी तथापि प्राचीन आर्य्यमन्तव्यों के अ

ज्ञानरूपी वायुचक्र ने फिर उसी भंवर में डालदी अन्यथा ऐसा कब संभव था कि **"एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"** इत्यादि वाक्यों से निराकार नियन्ता पाए जाने पर भी निराकार के नियन्ता होने में फिर शङ्का करते। वेद के पश्चात् केवल उपनिषत्कार महर्षियों ने ही इस अर्थ को संग्रह नहीं किया किन्तु सूत्रकार भी मुक्त कण्ठ से कहते हैं **"अक्षरमम्बरान्तधृतेः"** वेदान्त अ० १ पा० ३ सू० ९ अक्षर ब्रह्म है, "अम्बर" आकाशादिकों का आधार वर्णन किये जाने से, इस अर्थ को स्मृतिकार भगवान् मनु ने भी इसी प्रकार ग्रन्थन किया है:—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥१२।१२२

अर्थ—सर्व संसार का नियन्ता "अणीयांसमणोरपि" जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और "रुक्माभं" स्वतः प्रकाश है, रुक्म की उपमा से साकार का सन्देह होता था अतएव स्मृतिकार ने कहा है कि "स्वप्नधीगम्यं" अर्थात् जैसे स्वप्न के पदार्थ चक्षुरादि इन्द्रिय ग्राह्य नहीं एवं परमात्मा निराकार होने से मनका विषय है चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं, ऐसे पुरुष को "विद्यात्" जाने॥

इस प्रकार वेदोपनिषत् स्मृति सूत्र एक मत होकर ईश्वर के शरीर धारण का निषेध कर रहे हैं फिर भी स्वार्थ साधन तत्पर लोगोंने वेदार्थ के अनर्थ करके प्रयोजन सिद्धि में न्यूनता नहीं की, "सपर्य्यगात्" इस मन्त्रमें "स्वयम्भू" शब्द के अर्थ **स्वयं ब्रह्माविष्णुरुद्रादिरूपेण भवतीति स्वयम्भूः"** के किये हैं सत्यार्थ विवेक पृ० (०० इसी का अनुकरण मिश्र ज्वालाप्रसाद ने अपने तिमिर० १८२ पृ० में किया है उक्त ग्रन्थकारों ने सनातन भाष्यकारों की मर्यादा भंग कर-

ने में भय न करके मनमाने अर्थ किये हैं। स्वामी शङ्कराचार्य्य इस मन्त्र को सर्वात्मवाद में लगाते हैं और महीधर भी ऐसा ही कहता है। यथा—

परिभूःपरिसर्वेषामुपर्य्युपरिभवतिइतिपरिभूः।स्वयम्भूः स्वयमेवभवतीतियेषामुपरिभवतियश्चोपरिभवतिसः स्वयमेवभवतीति स्वयम्भूः ॥

अर्थ—जो सब के ऊपर विराजमान हो वह परिभूः और जो अपने आपही जिनके ऊपर हो और जो ऊपर हो वह सब स्वयं ही हो वह स्वयम्भू कहलाता है। उक्त आचार्य्यों के अर्थों को छोड़कर आधुनिक अर्थ करना यह सूचित करता है कि वेद दूषित होंतो हों पर अवतार सिद्धि की असिद्धि न हो। तिमिरभास्करकार तो इस मन्त्र के अर्थ करने में ऐसे भयभीत हुए हैं कि ईश्वर की निराकारता को ही निरास कर बैठे हैं, आप प्रश्न करके स्वयं यह उत्तर देते हैं कि यह मन्त्र साकार को प्रतिपादन करता है,**प्रश्न**– "**सपर्य्यगात्**" इस मन्त्र में तो निराकार परमेश्वर का वर्णन है ? उत्तर में उक्त मंत्र से ब्रह्मा विष्णु आदि के अवतार सिद्ध किये हैं। किसी कवि ने सत्य कहा है "स्वार्थी दोषं न पश्यति" यदि यह मंत्र निराकार का बोध नहीं करता है तो फिर वेद में निराकार बोधक मंत्र कौन है ? क्योंकि निराकार तो आय को भी अभिमत है आपभी तो निराकार से ही साकार बनाते हैं परइस प्रतिज्ञा का ध्यान कहां ? इन आधुनिक "सनातनधर्मियों" ने वेदार्थ करने में ऐसा नैपुण्य दर्शाया है कि कलियुग में एक नया वेदाशय रच लिया जहां ऋग्वेद अ०३ अ० ५ व० ७ म० ९ में कृष्णत एम शब्द आया है उसके अर्थ कृष्णावतार के किये। साम उत्तरार्चिक अ०१५ खं०२ मं० १ मं० ३ में रामशब्द जो अंधकार का वाचक था उस के अर्थ

रामावतार के किये। उक्त दोनों मंत्रों में सायणाचार्य्य अंधेरे के और कालेपन के अर्थ करता है "रामं शार्वरं तमः" "कृष्णंतएम "(हे अग्ने ते तव एमन् कृष्णं भवति) इन आधुनिक भाष्यकारों को ऐसे अगम की सूझी है कि अंधेरे से और कालेपन से रामावतार और कृष्णावतार निकाल लिये, इसी प्रकार यजु० अ० १८। मं० ७१ में "**मृगोनभीमः**" इस से नृसिंहावतार निकाला है सायण तथा महीधर दोनों ने ही इस के अर्थ नृसिंहावतार के नहीं किये हैं किन्तु महीधर ने तो मृग शब्द से शुद्ध करने वाले का अभिप्राय लिया है इस से सिद्ध होता है कि नृसिंहावतार ने वेदभाष्य में महीधर के पश्चात् ही जन्म लिया है, एवं "**पदावराहोऽभ्येतिरेमन्**" ऋ० अ० ७ अ० ४ मू० १२ इस में बराहावतार और जो अवतार शेष रहे वे "**प्रजापतिश्चरतिगर्भे**" यजु० अ० ३१ मं० १९ इस मंत्र मे सिद्ध कर लिये हैं। महीधर इस मंत्र से अद्वैतवाद सिद्ध करता है कि ब्रह्म उत्पन्न होता हुआ भी सर्वरूप में स्थिर है इस लिये जीव अपने आप को ब्रह्मरूप से कथन कर सकता है अर्थात् "**अहंब्रह्मास्मीति**" मैं ब्रह्म हूं इसरूप से ब्रह्म का ध्यान कर सकता है इस विषय में उक्तमंत्र को महीधर ने लगाया है॥

मच्छ कच्छादि अवतारों का यही मंत्र भण्डार है। यह बात महीधर को नहीं सूझी थी जो आजकल के सनातन धर्म संस्कार कर्त्ताओं ने निकाली है। जो न्यूनता अवतार सिद्धि में पाई जाती है वह इसी मंत्र से पूरी करली जाती है क्यों न की जाय जहां स्वयम्भू शब्द के अर्थ यह कर लिये जाते हैं कि ईश्वर स्वयं ब्रह्मा, रुद्र, शिव, शक्तिरुप अवतार धारण करता है वहां मनमाने अर्थ करना कौन बड़ी

बात है

इस कथा को कहां तक कहें, सारांश यह है कि महीधर सायण के समय में वेदों में ईश्वर के मच्छ कच्छादि जन्म की चर्चा न थी। मच्छ कच्छादि कथा की पूर्त्ति के लिये पुराण ही पर्य्याप्त समझे जाते थे पर समय के परिवर्तन ने आर्य्य सन्तान को वेदार्थ से यहां तक गिरा दिया है कि अब ईश्वर का तिर्यक् योनियों में जन्म निरूपण करने की फ़िलासफ़ी भी वेदों में मूझती है और इस बात की भी लज्जा नहीं आती कि श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य एक ब्रह्मवाद का नाद ही वेदों का सार मानते थे फिर हम क्यों उत्पत्ति विनाशशाली पदार्थों को ईश्वर मानकर वेदों को कलङ्कित करते हैं। यह बात शङ्कर दिग्विजय पृ० ८४ गद्य गणपति खण्डन में स्पष्ट करदी गई है।

भो गाणपत्य! सत्यमुक्तं भवता गणपतेः सर्वोत्तमत्वं, तन्मायाबलाद्रुद्राद्युत्पत्तिश्चेति भवद्भिः प्रतिपादितं किल तदसमञ्जसम् प्रतिभाति, कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपतेः रुद्रगणैःसह लयानुगस्य जगत्कारणत्वं कल्पयितुमुचितम्। किञ्च रुद्रसुत इति लोके प्रसिद्धिरस्ति, तस्य ब्रह्मत्वे कल्पिते पित्रादि कारणत्वं सुतस्यानुचितमेव, अतो रुद्रादिकारणं परब्रह्मैव "सदेव सौम्येदमग्रआसीत्" इत्यादिवाक्यात्॥

अर्थ—हे गणपतिमतावलम्बिन्! जो तुमने यह कहा है कि गणपति सब से उत्तम है उसी की माया से रुद्रादिकों की उत्पत्ति है यह ठीक नहीं, सगुण गणेश हस्तिके मुख वाला जिसका रुद्र के गणों के साथ ही उत्पत्तिलय होता है वह कैसे जगत् का कारण हो सक्ता है? क्योंकि वह रुद्र का पुत्र है यह लोक में प्रसिद्ध है यदि उसको ब्रह्म मानोगे तो वह पुत्र होने से रुद्रादिकों का कारण नहीं बन सकेगा इसलिये

ब्रह्म ही रुद्रादि सब का कारण है "वही सत्यरूप सृष्टि से प्रथम था" ब्रह्म ही पहले था इत्यादि उपनिषत्प्रमाणों से ब्रह्म ही जगत् का कारण है इस कथन ने स्वामी शङ्कराचार्य्य के आशय को स्पष्ट कर दिया है फिर क्या कारण है? कि आधुनिक लोग उक्त मन्तव्य को न मान, भटक कर भूल में पड़ते हैं।।

कारण यही अनुमित होता है कि जो धुन आजकल के लोगों को अवतार सिद्धि की लगी है वह पहले नथी, इस विषय में कई एक लोग यह शङ्का करते हैं कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने भी उभय प्रकार माने हैं कहीं अवतार का खण्डन और कहीं मण्डन, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने गीतादि भाष्यों में कहीं२ अवतार के भाव का मण्डन किया है तथापि परिणाम यह नहीं निकलता कि स्वामी शङ्कर पौराणिकों के सम अवतार वादी थे, क्योंकि वह अद्वैतवाद के भाव में आकर अवतार कथा को ऐसे सन्देह में डाल जाते हैं जिस प्रकार के अवतार होने का प्रत्येक अद्वैतवादी दम भर सक्ता है। ठीक है जब उनके मत में प्रत्येक मनुष्य ब्रह्म बन सक्ता है तो अवतार की क्या कथा है? ।।

कुछ ही क्यों न हो, स्वामी शङ्कराचार्य्य के उभय प्रकार के विचार से अवतार का सार नहीं निकलता किन्तु एक ब्रह्मवाद का ही नाद निकलता है। देखो तर्कपाद सूत्र ४० । यहां भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य्य ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि शरीरधारी कदापि जगदाधार नहीं हो सकता, यदि देहेन्द्रियादि संघात वाला ईश्वर माना जाय तो संसारी जीव की तरह भोक्ता मानना पड़ेगा और शरीरधारी सृष्टि के पश्चात् ही हो सकता है, फिर वह सृष्टिकर्ता कैसे हो सकता

है "करणग्रामसाम्ये चाभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्" "ईश्वरस्यापि किञ्चिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात् नच तद्वर्णयितुं शक्यते मृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक् सृष्टेस्तदनुपपत्तेः" इत्यादि भाष्य में अति प्रबलता से ईश्वर के शरीरधारी होने का खण्डन किया गया है यही भाव दिग्विजय के अक्षर अक्षर से झलकता है। स्वामी शङ्कर में यह बल था कि वह पौराणिक पङ्क से पार हो जाते थे जैसे कि स्मृतिपाद प्रथमसूत्र में कपिल का खण्डन करते यह दर्शाया है कि वेद विरुद्ध वादकर्ता कोई भी क्यों न हो उसकी किञ्चिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये इसी बल से स्वामी शङ्कर ने बौद्धमत का खण्डन किया अन्यथा कब सम्भव था कि पुराणों के ईश्वर बुद्ध का स्वामी शङ्कर खण्डन करते ॥ श्वेताश्वतर अ० ५ श्लो० २ में कपिल का नाम आया है "ऋषिंप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानञ्च पश्येत्" इस श्लोक में स्वामी शङ्कर ने कपिल को अवतार नहीं माना, और श्लोक का आशय भी यही है कि जिसने कपिल को ज्ञानी बनाया। पर स्वामी शङ्कर ने तो शारीरक भाष्य में इस बात को यहां तक स्पष्ट करदिया है कि धर्मानुष्ठान पूर्वक ही कपिलादिकों की सिद्धि थी फिर धर्म से विरुद्ध यदि कपिलादि कहें तो कैसे मन्तव्य हो सक्ता है "न सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्" "धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः" इत्यादि भाष्य से यह सिद्ध कर दिया है कि धर्मानुष्ठान करने से कपिल सिद्ध था, हम यहां पौराणिक भ्राताओं से पूछते हैं कि अवतार भी धर्मानुष्ठान करने से सिद्धि को प्राप्त हुआ करते हैं ? कपिल और बुद्ध अवतार थे तो स्वा-

भी शङ्कराचार्य्य ने उनके मतका खण्डन क्यों किया ? जब अवतार का बीज यह है कि वह अधर्म के उखाड़ने के लिये और धर्म की वृद्धि के लिये धारण किया जाता है तो बुद्धावतार ने इससे विपरीत क्यों किया ? । यदि वैदिक धर्म का खण्डन ही उसका धर्म था तो वह अवतार कैसे ? इत्यादि सैकड़ों प्रश्न हैं जिनका उत्तर पौराणिक वर्ग में कुछ नहीं । फिर भी पौराणिक मत की झोक में ऐसे झुके जाते हैं कि कुशकाशावलम्बन न्याय से कहीं नाम मात्र का सहारा मिलना चाहिये फिर अर्थ के अनर्थ हों तो भले ही हों पर पौराणिक कपिलादि अवतारों की कल्पना कम न हो ।। **"भद्रोभद्रया सचमान आगात्"** इस मन्त्र में जार शब्द के अर्थ जो अंधकारादिकों के दूर करने वाले के हैं, उसके अर्थ सीता माता के जार के किये जाने में हानि नहीं पर रामावतार की सिद्धि में बाधा न पड़े जहां ऐसे कुलकलङ्क विद्यमान हों वहां कल्याण की क्या आशा है ।।

ऐसे अनर्थ साधारण पुरुषों के ही किये हुए नहीं मिलते प्रत्युत निखिलशास्त्रनिष्णात स्वामी बालराम, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यासादि सबने ऐसा ही किया है विशेषकर स्वामी बालराम ने तो ऐसी बाललीला की है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् से कपिलावतार सिद्ध किया है जिसके अवतार वाद का शङ्करभाष्य में गन्ध भी नहीं था प्रत्युत खण्डन था एवं जिसके मत का शङ्कराचार्य्य ने पूर्ण रीति से खण्डन किया था फिर उस के मत का प्रचार और उसी कपिल को भागवतकारने अवतार माना । इसी भागवतकार की छाया लेकर आज **"दशानामेकं कपिलं समानं"** ऋ० मं० १० सू० २७मं०१९ इस मंत्र से कपिलावतार सिद्ध किया है जिस को सायणभाष्य में ऋषि माना गया था वह आज वैदिक अवतार बनता है ।

इस से और अनर्थ क्या हो सक्ता है, एवं वराहावतार जिस मन्त्र से निकाला है वहां गंध मात्र भी अवतार कथा नहीं पाई जाती किन्तु "वरञ्च तदहश्च वराहः" वर श्रेष्ठ जो दिन हो उस को वराह कहते हैं। ऐसे दिन वाले सोम का नाम वराह है। यह अर्थ सायण ने किये हैं इस दृश्य के दर्शन के लिये उन सब मन्त्रों को हम यहां लिखते हैं जिनके मिथ्यार्थ करके आज अवतारसिद्धि की जाती है। आजतक जितने मन्त्र अवतारसिद्धि में लिखे गए उन सब को लिख कर और उन मिथ्यार्थ लेखकों के अर्थ भी साथ२ प्रकाशित करते हैं जिस से पाठकों को यह विषय सम्पूर्ण रीति से ज्ञात हो जाय। और अपूर्वता इस अर्थाभासनिदर्शनामक द्वितीय समुल्लास में यह है कि सायण महीधरादि भाष्य भी उन मिथ्यार्थों के नीचे दिये जायंगे जिससे कि उक्त भाष्य मिथ्यार्थ कलङ्कित मुखों का आदर्शवत् प्रकाश करें ॥

इत्यार्य्यमन्तव्यप्रकाशे १ समुल्लासः समाप्तः ॥

ओ३म्

अथार्य्यमन्तव्यप्रकाशे अर्थाभास-निदर्शनं नाम द्वितीयः समुल्लासः प्रारभ्यते

भद्रोभद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारो अभ्येति पश्चात् । सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नु शर्द्धिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥ सा० उ० अ० १५ खं० २ सू० १।३

सायणभाष्यम्—

(भद्रः) भजनीयः कल्याणः (भद्रया) भजनीयया दीप्त्या उषसा वा (सचमानः) सेव्यमानः संगच्छमानोवा (अग्निः) (आगात्) आजगाम गार्हपत्यादाहवनीयमागच्छति । ततः पश्चात् (जारः) जरयिता शत्रूणां सोग्निः स्वसारं स्वयं सारिणींभगिनीं वाऽऽगतामुषसं अभ्येति अभिगच्छति (तथा) (सुप्रकेतैः) सुप्रज्ञानैः (द्युभिः) दीप्तिभिःश्वेतैः (वर्णैः) वारकैरात्मीयैः तेजोभिः(रामं)कृष्णं शार्वरं तमः अभ्यस्थात् सायं होमकाले अभिभूय तिष्ठति ॥ १ ॥

भाषार्थः—

(भद्रः) कल्याणरूप अग्नि (भद्रया) दीप्ति से शोभावाला अग्नि गार्हपत्याग्निस्थान से आहवनीयाग्नि स्थान में आता है तत्पश्चात् (जारः) शत्रुओं के नाश करने वाला अग्नि अपनी भगिनी रूप उषा को प्राप्त होता है (रामं) रात्रि के तम को तिरस्कार करके स्थिर होता है ॥

भाषार्थ पं०बालकराम—

(भद्रः) कल्याणकर पूजनीय रामचन्द्र जी जब (भद्रया) कल्याणकारी जानकी जी के सहित वन में गमन करते भये तब जारवत् लम्पट जो रावण है सो (पश्चात्) रामचन्द्र के न होने समय में अर्थात् मारीच मारणार्थ जाने के समय में स्वपित्रादि ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने से भगिनी के तुल्य जो सीता उस के समीप गमनकर हरण करता भया, तदनन्तर अग्निवत् प्रज्वलित हुआ २ शोभनध्वज विशिष्ट दिव्य कमनीय रथों के सहित और कुम्भकर्णादि के सहित युद्धार्थ सन्नद्ध होकर (राममस्थात्) रामचन्द्र के सम्मुख आता भया। एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् के अ०५ द्वितीय मंत्र से कपिलावतार भी कहा है।

भाषार्थ पं०ज्वालाप्रसाद मिश्र—

भद्र रामचन्द्र भद्रा सीता जी के साथ प्रकट हुए, तब जार रावण ने ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण अपनी भगिनी समान जानकी को हरण किया, पीछे अन्तकाल पर क्रोध से प्रज्वलित रावण ने सम्मुख होकर कुम्भकर्ण आदि के जीवात्माओं के साथ श्रीराम के सामीप्य को पाया।

कृष्णंत्एम् रुशतः पुरो भाश्चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकम्। यदप्रवीता दधतेह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसी दुदूतः॥ ऋ० मं० ४ सू०७ अ०१ मं० ९॥

सायणभाष्यम्—

हे अग्ने! रुशतः रोचमानस्य ते तव सम्बन्धि अत्रैम एमन् शब्देन गमनमार्ग उच्यते एमवर्त्म कृष्णं कृष्णवर्णं भवति भाः तव सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरस्ताद्भवति चरिष्णुः संचरणशी-

लमर्चिः स्वदीयं तेजः वपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः । एकमित् मुख्यमेवभवति यत् यंत्वां अप्रवीतां अनुपगता यजमानाः गर्भं त्वज्जननहेतुमरणिं दधते हधारयन्ति खलु सत्वं सद्यश्चित् सद्यएव जातः उत्पन्नः सन् दूतो भवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव ॥ २ ॥

भाषार्थः—

हे अग्ने ! रोचमान देदीप्यमान जो तुम हो, तुम्हारा (एमन्) मार्ग (कृष्णं) काला होता है और तुम्हारी (भाः) दीप्ति प्रथम होती है। तुम्हारा तेज तेजस्वियों के लिये मुख्य ही है तुम को प्राप्त न होते हुए यजमान तुम्हारी उत्पत्ति के हेतु अरणि को ग्रहण करते हैं ऐसे तुम तत्काल में उत्पन्न होते हुए उन यजमानों के दूत के समान होते हो ।

भाषार्थ साधुसिंह—

वामदेवादि जीवन्मुक्त कैवल्यपति भगवान् की प्रार्थना करते हैं हे भूमन् ! आपका जो सत्यानन्द चिन्मात्र रूप है और रुद्ररूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्मकारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्ण भारूप को हम प्राप्त होवें, जिस आपके स्वरूप की एकही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशमात्र समष्टि जीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृरूपकर वर्तमान हैं और जो कृष्ण भा को अप्रवीता अर्थात् निगड़ में ग्रस्तदेवकी गर्भरूप से धारण करती भई इसी वास्ते छान्दोग्य के तृतीय प्रपाठक में "कृष्णाय देवकीपुत्राय" ऐसे श्रीकृष्ण की देवीकी माता सुनी जाती है। हे भूमन्! आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर तत्काल ही वियोग जन्य दुःख देने वाले हुए । इस कथन से यह निश्चय कराया जो देवकीपति वसुदेव के गृह में

जन्म धारण किया और महेश्वरावतार भी इसी मन्त्र से बोधन किया तथा जीव को पूर्व निरूपित चिदंशत्व बोधन किया जानना ।स०वि०पृ० ६४।

सद्योजातस्य दद्दशानमोजो यदस्य वातो अनुवाति शोचिः । वृणक्ति तिग्मामतसेषु जिह्वां स्थिरा चिदन्नादयते विजम्भैः ॥ ऋ०अ०५व०७अ०३।१०

सायणभाष्यम्—

सद्योजातस्य अरणिनिर्मन्थनादनन्तरमेवोत्पन्नस्याग्नेः ओजस्तेजः ददृशानं ऋत्विगादिभिर्दृश्यमानं भवतीति शेषः वातो वायुः यद्यदास्याग्नेः शोचिर्दीप्तिः अन्वनु लक्ष्यीकृत्य वाति गच्छति तदा सोऽयमग्निः अतसेषु वृक्षसंघेषु तिग्मां तीक्ष्णां जिह्वां ज्वालां वृणक्ति संयोजयति स्थिराचित् स्थिराण्यपि अन्ना अन्नरूपाणि काष्ठादीनि जंभैस्तेजोभिः विदयते विखंडयति भक्षयतीत्यर्थः ॥

भाषार्थः—

अरणी निर्मथन के अनन्तर तत्काल उत्पन्न होने वाला अग्नि का तेज ऋत्विगादिकों से देखा जाता है, जब वायु इस अग्नि की दीप्ति को लक्ष्य करके चलता है तब यह अग्नि तीक्ष्ण ज्वालारूप जिह्वा से काष्ठों को भक्षण करता है ।

भाषार्थ पं० बालकराम—

(सद्योजातस्य) कुमारावस्थापन्न भगवान् के (ओजः) सामर्थ्य को (ददृशानं) हम देखते भए, अर्थात् इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि कथन करे हैं कि हम संपूर्ण ऋषियों ने इस भगवान् का बल पराक्रम दयालुता प्रभृति अपूर्व कर्म जब यह बालक ही रहे तब ही देखा था, क्या

सामर्थ्य देखा सो कहे हैं (यत्शोचिः) अर्थात् जो वन्हि की ज्वाला वन में शुष्क तृणों पर निक्षिप्त हुई अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त भई थी सो प्रचण्ड अग्नि की ज्वाला इस भगवान् की जिह्वा को प्राप्त होकर नाशको प्राप्त होती भई, उसमें दृष्टान्त कहे हैं (स्थिराअन्नाचित्) चित् इस निपात का अर्थ तुल्य है अर्थात् जैसे स्थिर पायस मोदक प्रभृति अन्न जिह्वा को प्राप्त होकर नष्ट होवे हैं तैसे अग्नि भी नष्ट होगया, तात्पर्य्य यह है कि पायसवत् अनायास से ही अग्नि को भक्षण कर गये किञ्च यही परमात्मा ही भजनीय है क्योंकि (दयते जम्भैः) अर्थात् अत्यन्त हिंसक क्रूर अग्निभक्षण कालियनागदमन प्रभृति कर्म्मों करके संसार का पालन करते हैं अब ऐसे दयानिधि का पूजन न करना सहजात् दयानन्दीय भ्रान्ति के पूजनार्थ ही है ।

भाषार्थ साधुसिंह—

इस द्वितीय मंत्रकर श्रीकृष्ण को शरणीयत्व ही प्रकट करते हैं जोकि तात्कालिक जान श्रीकृष्ण के सामर्थ्य को हमने देखा है कदाचित् किसी असुर कर शुष्क तृणों में अग्नि को ज्वाला वृद्ध भयो, और वायुकर प्रौढ़ हुई पश्चात् वो ज्वाला श्रीकृष्ण की जिह्वा को प्राप्त होकर नाश हो जाती भई। उस अग्नि ज्वाला के पान में दृष्टान्त कहते हैं जैसे पायसादि स्थिर अन्न को शीघ्र ही भक्षण करलेते हैं वैसे ही असुर प्रज्वलित अग्नि ज्वाला को पान कर गए । इससे हिंसक हेतुओं से यह श्रीकृष्ण रूप साक्षात् भगवान् पीडित लोकको अपनी शक्ति रूप विशेषणों कर रक्षा करते हैं इससे महाकृपालु यहही शरण करने को योग्य हैं ।

ऋतस्यहि धेनवो वावशानाः समूधनोः पीपयन्तयुभक्ताः । परावतः सुमतिं भिक्षमाणा विसिन्धवः समया सस्रुराद्रिम् ॥ ऋ० अ० १ व० २० अ० ५।६ ॥

सायणभाष्यम्—

ऋतस्य हि ऋतं देवयजनदेशंप्राप्तमग्निमेव धेनवः अग्निहोत्रादि हविषां दोग्ध्र्यो गावः पीपयन्त क्षीरादि लक्षणं गव्यं अपाययन् । कीदृश्यो गावः वावशानाः अग्निं पुनः पुनः कामयमानाः स्मदूध्नीः स्मच्छब्दो नित्यशब्दसमानार्थः नित्यमूधसायुक्ताः सर्वदा पयसः प्रदात्र्य इत्यर्थः द्युभक्ताः दिवाप्रकाशेन सम्भक्ताः संश्लिष्टास्तेजस्विन्य इत्यर्थः । अपिच सिन्धवः स्यन्दनशीलाः नद्यः सुमतिं अस्याग्नेः शोभनामनुग्रहात्मिकां बुद्धिं भिक्षमाणाः याचमानाः सत्यः अद्रिं समया अद्रेः पर्वतस्य समीपे परावतो दूरदेशाद्विसस्रुः विशेषेण गच्छन्ति प्रवहन्ति अग्नये दातव्यानां हविषां निस्पत्तये प्रवहन्तीत्यर्थः ॥

ऋतस्य क्रियाग्रहणं कर्तव्यामिति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । वावशानाः वशकान्तौ यङन्ताच्छानच्,नवश इति सम्प्रसारणप्रतिषेधः, बहुलं छन्दसीति शपोलुक्, छन्दस्युभयथेति शानच आर्धधातुकत्वात् अतोलोपयलोपौ अतएव लः सार्वधातुकानुदात्तत्वाभावे चित्स्वर एवशिष्यते स्मदूध्नीः स्मत् नित्यानि ऊधांसि यासां ताः ऊधसोनंङित्यनङादेशः समासान्तः संख्याव्ययादेर्ङीबितिङीप् भसंज्ञायामल्लोपो न इत्यल्लोपः ङीपः पित्वादनुदात्तत्वे बहुव्रीहिस्वर एव शिष्यते । पीपयन्त पा पाने अस्माद्धेतुमति णिच् शाच्छासाह्वेतियुक् एयन्ताल्लुङि च्लेश्चङादेशादि चङ्यन्यतरस्यामिति, चङः पूर्वस्योदात्तत्वम् हिचेति निघातप्रतिषेधः । परावतः परागतात् दूरं हि परागतं भवति अस्मिन् धात्वर्थे गम्यमाने उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे इति वातिः ॥

भावार्थ—

यज्ञदेश को प्राप्त अग्नि ही धेनुरूप है, वे अग्निरुप धेनुएं कैसी हैं ? प्रकाशरूप हैं। फिर कैसी हैं ? सिन्धुरूप हैं। इसप्रकार सायण ने यहां अग्नि में ही धेनुरूप का आरोप किया है ।

अर्थ अम्बिकादत्त व्यास—

दूधवती धेनुएं भगवान् कृष्ण के साथ थीं और वे दूध को पिलाती थीं, गोवर्धन पहाड़ के निकट कृष्णदेव की इच्छा करती हुई तृणों को भक्षण करती थीं और फिर कैसी थीं ? कि सिन्धु के समान दुग्ध को बहाती थीं।

इस मंत्र से कृष्ण की गौएं और गोवर्धन निकाला गया है ॥

अवतारमीमांसा

यस्मिन् विश्वानि काव्याचक्रे नाभिरिव श्रिता त्रितं जूतीसपर्यत। व्रजे गावो न संयुजे युजेऽश्वां अयुक्षत नभन्तामन्यकेसमे ॥ ऋ० अ० ६ अ० ३ व० २७।१

सायणभाष्यम्—

यस्मिन् वरुणे विश्वानि सर्वाणि काव्या काव्यानि कविकर्माणि चक्रे नाभिरिव यथा रथस्य चक्रे नाभिस्तथाश्रिता श्रितानि तंत्रितं त्रिस्थानं वरुणं जूती जूत्या क्षिप्रं सपर्यत हे मदीयाजनाः परिचरत। किमर्थमित्यत आह व्रजे गोष्ठे गावो न यथा गाः संयुजे संयोगार्थं सहस्थापयितुं युजे युञ्जन्ति तथास्माकमभियोगायाश्वानयुञ्जत सपत्नायुञ्जन्ति अतस्तदुपद्रवपरिहाराय वरुणं परिचरेतेत्यर्थः ॥

भाषार्थः—

जिस वरुण में (सम्पूर्णकाव्य) कवियों के कर्म्म नाभि के समान समर्पित हैं जैसे रथ के चक्र के आश्रित नाभि होती है, इस प्रकार हैं। हे पुरुषो! तुम ऐसे वरुण की पूजा करो ताकि वह तुम्हारे लिये न केवल व्रज * में गौओं को ही दे अपितु युद्ध में अश्वों को भी दे इसलिये उस की मन से उपासना करो।

अर्थ आम्बिकादत्तव्यास—

जिस परमात्माने व्रज में केवल गौओं का ही योग नहीं किया अपितु अर्ज्जुन के सारथि बनने की अवस्था में घोड़ों को भी अर्ज्जुन के रथ में जोड़ा, उस परमात्मा की तुम लोग मन से पूजा करो। (अवतार मीमांसा)

—:-*-::-*—

अपिवत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे। तत्रादोदिष्ट पौंस्यम् ॥ साम० अर्च्च० छ० अ० २ खं०२ प्र० १ ॥

सायणभाष्यम्—

इन्द्रः कद्रुवःकद्रुनामकस्यऋषेः सम्बन्धिनं सुतमाभिषुतं सोममपिवत् पीतवान्। सहस्रबाह्वे सहस्रबाहोः शत्रूंश्चाहन्निति शेषः। अत्रास्मिन्नवसरे पौंस्यं इन्द्रस्य वीर्य्यमदेदिष्टादीप्यत ॥

भाषार्थः—

इन्द्र ने बल के लिये कद्रु सम्बन्धि सोम को पिया और फिर सहस्रबाहु शत्रु को मारा। इस समय इन्द्र का बल प्रकाशित हुआ।

---

* व्रज नाम गौओं के एकत्र करने के स्थानका है। इसी कारण से पौराणिक लोग मथुरा वृन्दावन आदि को भी व्रज कहते हैं ॥

अर्थ ज्वालाप्रसाद भार्गव—

परशुरामरूप परमेश्वर ने सहस्रबाहु के लिये क्रोध को धारण किया, उस समय उनका पराक्रम प्रदीप्त हुआ ॥

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघाꣳसद्भ्योमुष्णतांपतये नमो नमो ऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥य० अ०१६ मं० २१ ॥

महीधरभाष्यम्—

वञ्चति प्रतारयति वञ्चन् परि सर्वतो वञ्चति परिवञ्चन् तस्मैनमः । स्वामिन आप्तो भूत्वा व्यवहारे कुत्रचित्तदीयं धन मपन्हुते तद्वञ्चनम् । सर्वव्यवहारे धनापन्हवः परिवञ्चनम् । गुप्तचोराश्चिविधाः रात्रौगृहे खातादिना द्रव्यहर्तारः । स्त्रीया एवाहर्निशमज्ञाता हर्तारश्च । पूर्वे स्तेनाः उत्तरेस्तायवः तेषां पतयेनमः । निषङ्गः खड्गो बाणो वा सोऽस्यास्तीति निषङ्गी इषुधिर्बाणाधारोऽस्यास्तीतीषुधिमान् तदुभयरूपाय नमः । तस्कराः प्रकटचोरास्तेषां पतयेनमः । सृक इति वज्रनाम (निघ० २ । २० । ६) सृकेन वज्रेण सह यन्ति गच्छन्तीत्येवंशीलाः सृकायिणः अतएव शत्रून् हन्तुमिच्छन्ति जिघांसन्ति जिघांसन्तीति जिघांसन्तः हन्तेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः ॥ क्षेत्रादिषु धान्यापहर्तारो मुष्णन्तस्तेषां पालकाय नमः । असयः खड्गाः सन्ति येषांतेऽसिमन्तः नक्तं रात्रौ चरन्ति ते नक्तं चरन्तः खड्गं धृत्वा रात्रौ वीथीनिर्गतप्राणिघातकास्तेभ्यो रुद्रेभ्योनमः । विकृन्तन्ति छिन्दन्ति ते विकृन्ताः छित्त्वापहरन्तस्तेषां पतये नमः ।

भाषार्थः—

जो वञ्चन करने वाला है उसको नमस्कार है, और जो सर्व प्रकार से वञ्चन करने वाला है उसको नमस्कार है। चोरों के पति को नमस्कार है और खड्गधारी को नमस्कार है जो शत्रुओं के हनन की इच्छा करते हैं ऐसे रुद्रों को नमस्कार है और जो रात्रि के समय गली से निकलते हुओं को खड्गधारण करके हनन करते हैं उनको नमस्कार है ॥

अर्थ बालकराम—

वञ्चन करने वाले जो आपहो तिसके प्रति हमारा नमस्कार होय, और परिवञ्चन करने हारे जो आपहो जिसके प्रति हमारा नमस्कार होय, अर्थात् *बुद्धरूप को धारणकर असुरों को वञ्चनकर तिन्हों से वेद के परित्याग करावने हारे और मोहिनी रूप धारणकर दैत्यों को परिवञ्चनकर तिन्होंसे अमृतपान परित्याग करावने वाले जो आपहो जिसके प्रति हमारा नमस्कार होय, आप कैसे हो कि (स्तायूनांपतये) अर्थात् तस्करों के ईश्वर, जो पञ्चयज्ञ का अनुष्ठान न कर भोजन करते हैं सो तस्कर कहे जाते हैं जैसे गीता में कहा है (तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्तेस्तेन एवसः) अर्थात् देवता गण को न देकर जो भोजन करता है सो चौर है, इससे असुरों और बौद्धों का नाम चौर भया उन के आप पति हो ईश्वर हो । बुद्धरूप से व मोहिनी रूप से माननीय हो एवं निषङ्गधारी जो आप हो तथा इषु-धारी जो आप हो जिस के प्रति हमारा नमस्कार होय, निषंग नाम धनुष का है और इषुधि नाम बाणके रहने वाले तर्कश का है इस से रामावतार सिद्धभया फिर कैसे राम हैं कि (तस्कराणाम्पतये) अर्थात्

नोट *इस में बुद्धावतार का गन्ध मात्र भी नहीं पाया जाता ।

सीता को चुराने वाला जो रावण जिस के पति हैं, जैसे विघ्नों को नाश करने हारे गणेशजी को विघ्नपति जाता है तैसे तस्कर रावण का नाश करने से रामचन्द्र जी को तस्कर पति कहा है। सामवेद में तो स्पष्ट ही रामचन्द्रजी का वृतान्त है॥

प्रताक्षिष्णुः स्तवतेवीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षिपन्ति भुवनानि विश्वा॥ ऋ०अ०२अ०२व०२४। २

सायणभाष्यम्-

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात्सइत्यवगम्यते। समहानुभावो विष्णुः वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण प्रस्तवते प्रकर्षेणस्तूयते सर्वैः। कर्माणि व्यत्ययेन शप्। वीर्येणस्तूयमानत्वेदृष्टान्तः— मृगोन सिंहादिरिव यथा स्वविरोधिनो मृगायिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादिकर्त्ता दुर्गमप्रदेशगन्तावा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते। अस्मिन्नर्थे निरुक्तम्- मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः मृगइवभीमः कुचरो गिरिष्ठाः मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमोबिभेत्यस्माद्वीष्मोभ्येतस्मादेव कुचरइति चरतिकर्म कुत्सितमथचेद्देवताभिधानं कार्यं न चरतीति गिरिष्ठा गिरिस्थायी गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति पर्ववान्पर्वतः पर्वपुनः पृणातेः प्रीणातेर्वेति। तद्वदयमपि मृगः अन्वेष्टा शत्रूणां भीमः भयानकः सर्वेषां भीत्यपादानभूतः परमेश्वराद्भीतिः भीषास्माद्वातः पवते इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धःकिञ्च कुचरः शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्ता कुषु सर्वासुभूमिषु लोक-

त्रयेषु संचारी वा तथा गिरिष्ठाः गिरिवदुच्छ्रितलोकस्थायी यद्वा-गिरि मंत्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः ईदृशोयं स्वमहि-म्ना स्तूयते किंच यस्य विष्णोरुरुषु विस्तीर्णेषु त्रिषु त्रिसंख्या-केषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजा-तानि आश्रित्य निवसन्ति स विष्णुः स्तूयते ॥

भाषार्थः—

यह बड़े आशयवाला विष्णु अपने वीर्यरूपी कर्म से पूर्वोक्त रूप से स्तुति किया जाता है और वीर्य से स्तुति किये जाने में यह दृष्टान्त है कि वह मृग है पर भयानक मृग नहीं, अर्थात् जैसे मृग (सिंह) अपने से हीन जन्तुओं के लिये भयप्रद है वह ऐसा नहीं। फिर वह कैसा है ? कि कुचर (कुत्सित) हिंसादि करने वाला मृग नहीं, किन्तु गिरिष्ठ है उच्चस्वभाववाला है । अथवा कु जो पृथ्वी है उस में विचरनेवाला होकर भी गिरिष्ठा अर्थात् गिरिके शिखर पर रहने वाला है। पृथ्वी पर रहकर गिरि शिखर पर रहने का विरोध आताथा उक्त प्रकार से वह विरोध परिहार किया गया है और निरुक्त में इस के यह अर्थ किये गए हैं कि वह परमात्मा मृग की न्याई भयानक है अर्थात् अपने न्याय विरुद्ध शत्रुओं को मृग की न्याई ढूंढ़कर मारता है। और उससे सब डरते हैं इसीलिये वह भीम है और इसीलिये वह कुचर है शत्रुवधादि कुत्सित कर्म करता है अथवा कु नाम पृथ्वी के तीनों लोकों में विचरता है (व्यापक) है इसलिये कुचर कहा गया है। और गिरि की तरह उच्चलोकों में स्थिर है इसलिये गिरिष्ठा कहा गया अथवा गिरि जो मन्त्रादिरूप वाणी है उस में सर्वदा वर्त्तमान है इसलिये गिरिष्ठा कहा गया है। जिस विष्णु की तीन

प्रकार की गति में यह सब भुवन स्थिर हैं उस विष्णु की स्तुति इस मन्त्र में वर्णन की गई है ॥

अर्थ ज्वालाप्रसाद मिश्र—

मृगवत् नृसिंहरूपधारी परमेश्वर अपने पराक्रम कर स्तुति को प्राप्त होता है पृथिवी में विचरता है नृसिंहादिरूप से और कैलास में शिवरूप से निवास करता हुआ त्रिविक्रम अवतार में तीनपादन्यास से चतुर्दश भुवनों को कंपायमान करता है ।

अर्थ अम्बिकादत्तव्यास—

नृसिंहरूपधारी भगवान् अपने पराक्रम से भयङ्कर अवतार रूप से विचरता हुआ स्तुति को प्राप्त होता है जिस के विष्णु रुद्रात्मक तीनों रुपों में तीनों भुवन निवास करते हैं अथवा जिस के वामनावतार सम्बन्धि तीन पैर से संसार नापने में सब भुवन आगये उस का वर्णन इस मन्त्र में है ॥ (अवतारमीमांसा)

दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय । गर्भे माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति ॥ ऋ० अ०७ अ०७ व०२८

सायणभाष्यम्—

दशानां दशसंख्याकानां पूर्वोक्तानामेवङ्गिरसां मध्ये एकं मुख्यं कपिलं एतन्नामानं तं प्रसिद्धमृषिं कीदृशं समानं सदृशंकेन सामर्थ्यात्प्रजापतिना, हिन्वन्ति अवशिष्टा अङ्गिरसः प्रेरयन्ति। किमर्थं क्रतवे यज्ञादिजगत्प्रवर्त्तनकर्मणे यद्वा सम्यग्ज्ञान-लक्षणप्रज्ञानाय । कीदृशाय पार्याय परि समापयितव्याय प्रणेतव्याय वा यज्ञादिकर्मणोपदेशनायेत्यर्थः माता प्रकृत्याख्या च वक्षणासु वक्षणाइति नद्य उच्यन्ते ताभिश्चात्रापो लक्ष्यन्ते प्र-

कृतिस्थासु सूक्ष्मास्वप्सु सुधितं सुहितं प्रजापतिनास्थापितमित्यर्थः। अवेनन्तं वेनतिः कान्तिकर्मा गतिनिवासमकामयमानं तादृशं प्रजापतेः गर्भं तुषयन्ती तुष्यंती सम्यक् ज्ञानान्युपदेष्टुं योग्योयमिति प्रीता सती बिभर्ति प्रजापतेर्नियोगाद्धारयति ॥

भाषार्थः—

दश संख्यावाले जो पूर्वोक्त अङ्गिरा हैं उनमें से कपिल नाम वाले प्रसिद्ध ऋषिको जो सामर्थ्य से प्रजापति के सदृश था शेष अङ्गिरसों ने प्रेरणा किया। यज्ञादि कर्म प्रवर्तना करने के लिये, अथवा यज्ञादि कर्मों के उपदेशक करने के लिये।

अर्थ ज्वालाप्रसाद भार्गव—

दश अवतारों के समान अद्वैत कपिल जी को परिसमाप्ति योग्य ब्रह्मयज्ञ के लिये प्रेरणा करते हैं और माता जी प्रजापति द्वारा गर्भ में स्थापित निवास चाहने वाले बाल को अपना उपदेशक जानकर प्रसन्न होती धारण करती है।

अर्थ अम्बिकादत्त व्यास—

दश अवतारों में से मुख्य यह कपिलावतार है अर्थात् अवतार विशेष है और प्रजापति के अंशों ने इस से ब्रह्म बोधन करने के लिये प्रार्थना किया जिस से यह अवतार हुआ। (अवतार मीमांसा)

प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति। महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदाविराहो अभ्येति रेभन् ॥ ऋ०अ० ७ अ० ४ व० १२ ॥

सायणभाष्यम्—

उशनेव एतन्नामक ऋषिरिव काव्यं कविकर्मस्तोत्रंब्रुवाण उच्चारयन् देवःस्तोता अयमृषिः वृषगणोनाम देवानामिन्द्रादीनां जनिम

जन्मानि प्रविवक्ति प्रकर्षेण ब्रवीति (वच परिभाषणे) व्यत्ययेन विकरणस्यश्लुः बहुलंछन्दसीति अभ्यासस्येत्वं महिव्रतः प्रभूतकर्मा शुचिबन्धुः बध्नन्ति शत्रूनिति बन्धूनि तेजांसि बलानि वा दीप्ततेजस्कः पावकः पापानां शोधकः वराहः वरंच तदहः वराहः राजाहः सखिभ्यष्टजिति टच् समासान्तः। तस्मिन्नहनि अभिषूयमाणत्वेन तद्वान् अर्शआदित्वान्मत्वर्थीय अच् तादृशः सोमः रेभन् शब्दं कुर्वन् पदा पदानि स्थानानि पात्राणि अभ्येति अभिगच्छति। यद्वा यथा कश्चन वराहः पदा पादेन भूमिं विक्रमाणः शब्दं करोति तद्वत् ॥

भाषार्थ—

उशना इस नाम वाले ऋषि के समान काव्यं कविता के कर्म रूपी स्तोत्र को कथन करता हुआ यह स्तोता ऋषि इन्द्रादिकों के जन्म प्रकर्ष करके कथन करता है। वह कैसा स्तोता है महीव्रत है, और बड़े कर्म्म वाला है, शुचिबन्धु है, दीप्ततेज वाला है, ऐसा जो सोम है वह शब्द करता हुआ यज्ञ पात्रों को प्राप्त होता है, अथवा जैसे कोई वराह पैर से भूमि का आक्रमण करता हुआ शब्द करता है वैसे यह भी शब्द करता है ॥

अर्थ अम्बिकादत्त व्यास—

(उशनेव) शुक्र के समान काव्य का कथन करता हुआ देवताओं में देव परमेश्वर अवतार प्रकट करता है वह कैसा देव है ? महिव्रत है अर्थात् हिरण्यकशिपु से हरी हुई पृथ्वी उद्धारकी प्रतिज्ञावाला है, शुचिबन्धु जो सदाचारी भक्तों पर दयालु है (वराह) धारण कियाहै शूकररूप जिसने ऐसा भगवान् शब्द करता हुआ पैरोंसे चलता है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ य० अ० ३१ । १९ ॥

महीधरभाष्यम्—

यः सर्वात्मा प्रजापतिः अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्य्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीराः ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेः योनिं स्थानं स्वरूपं (परि) पश्यन्ति अहं ब्रह्मास्मीति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥

भाषार्थः—

जो परमात्मा प्रजापतिरूप है, हृदय के अन्तर स्थिर होकर गर्भ के मध्य में प्रवेश करता है अर्थात् जो गर्भ के भीतर उत्पन्न न होता हुआ मायावश बहुत प्रकार के कार्य्यकारणरूप से प्रपञ्चरूप उत्पन्न होता है, धीर ब्रह्मवेत्ता लोग उस प्रजापति परमात्मा के (योनि) स्वरूप को "अहं ब्रह्मास्मि" इस रूप से जानते हैं । और सब भूत उसी कारणरूप परमात्मा में स्थित हैं। सब कुछ उसका आत्माही है यह अर्थ है ।

अर्थ ज्वालाप्रसाद मिश्र—

(प्रजापतिः) परमेश्वर (गर्भेअन्तः) गर्भ के मध्य में (चरति) प्राप्त होता है (जायमानः) जन्म धारण करता हुआ (बहुधा) देवता मनुष्य रामकृष्णादि रूपों से (विजायते) उत्पन्न होता है (धीराः) ज्ञानी महात्मा सतोगुण प्रधान पुरुष (तस्य) उस परमा-

त्मा के (योनिम्) जन्म कारण को (परिपश्यन्ति) ज्ञान से सब ओर से देखते हैं (अज्ञानियों को उस का जन्म नहीं विदित होता) (यस्मिन्) जिस परमेश्वर में ही (ह, विश्वा, भुवनानि) सब ब्रह्माण्ड (तस्थुः) स्थित हैं ॥ दयानन्दतिमिरभास्कर प्रथमावृत्ति पृष्ठ १६६

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा ॥ य० अ० ५ मं० १५ ॥

महीधरभाष्यम्—

कां० (८, ३, ३१) दक्षिणे वर्त्मनि दक्षिणस्यानसो हिरण्यं निधायाभिजुहोतीदं विष्णुरिति । दक्षिणशकटसम्बन्धिदक्षिणचक्रमार्गे हिरण्यं निधाय तत्रैष होमः ॥ विष्णुदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा ॥ विष्णुः त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमतेस्म । तदेवाह । त्रेधापदं निदधे भूमावेकं पदमन्तरिक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयामिति क्रमादग्निवायुसूर्य्यरूपेणेत्यर्थः । पांसवो भूम्यादि लोकरूपा विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन् पांसुरे अस्य विष्णोः पदे समूढे सम्यगन्तर्भूतं विश्वमिति शेषः ॥ यद्वायमर्थः । अस्यविष्णोः पदं पद्यते ज्ञायत इति पदमद्वैताख्यं स्वरूपं समूढमन्तर्हितमज्ञातमकृतात्मभिः । कस्मिन्निव । पांसुरे इव लुप्तोपमानं पांसुलेरजस्वले प्रदेशे निहितं यथा न ज्ञायते तद्वत् ॥ तदुक्तं (अ० ६ । ५ क०) तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरय इति ॥ स्वाहा तस्मै विष्णवे हविर्दत्तम् ॥

भाषार्थः—

विष्णुने त्रिविक्रम अर्थात् वामनावतार को धारण करके इस सब विश्व का विभाग किया, इस बात को इस मंत्र में कहते हैं । एक पैर

भूमिपर रक्खा, दूसरा अन्तरिक्ष में तीसरा द्युलोक में, इस प्रकार क्रम से अग्नि वायु और सूर्य्य रूप से विभाग किया, और जैसे धूलि-युक्त प्रदेश में अर्थात् गहरी आंधी में सब वस्तुएं छिप जाती हैं इस प्रकार विष्णु के पद में सब लोक लोकान्तर छिपगए ।

अथवा इस मंत्र के यह भी अर्थ है— इस विष्णु का पद वह कहलाता है जो ज्ञान द्वारा जाना जाय और वह अद्वैत स्वरूप है अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान है और उस ज्ञान को अविवेकी असंस्कारी नहीं जान सकते जिस प्रकार कि धूलि युक्तप्रदेश में और वस्तुएं नहीं जानी जातीं, इस बात को अध्याय ६ मं० ५ में भले प्रकार स्पष्ट करदिया है कि विद्वान् लोग ही उस के ज्ञान को लाभ कर सकते हैं, अज्ञानी स्थूलदर्शी नहीं । *

अर्थ ज्वालाप्रसाद मिश्र—

अमरेश त्रिविक्रमावतारी वामन जी इस विश्व को उल्लंघनकरते हैं तीन पग धरते हैं । एक भूमि दूसरा अन्तरिक्ष तीसरा स्वर्ग में, इन के चरण में चतुर्दशभुवन ब्रह्माण्ड सम्यक् अन्तर्भूतहोता है ।

* नोट—इसी पर पं० सत्यव्रत सामश्रमी का वह नोट है जिस में उन्हों ने लिखा है कि यह सायण का व्याख्यान वेद के आशय से विरुद्ध है जिस में वामनावतार निकाला गया है । और एक अंश में तो महीधर ने भी इस बात को मान लिया कि जब पिछले अर्थ में अद्वैतवाद को समर्थन किया और छठें अध्याय के उस मंत्र का उदाहरण दिया जिस में लिखा है "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" कि विष्णु के (पदम्) स्वरूप को ज्ञानी लोगही अवगत कर सकते हैं। इस से स्पष्ट प्रतीत होगया कि वेद का आशय वह नहीं जिस को अवतार वाद की ओर आग्रह से महीधर और सायण ने खींचा है ।

अथ ज्वालाप्रसाद भार्गव-

अमरेश त्रिविक्रमावतार वामन जी इस विश्व को उल्लंघन करते हैं तीन पग रखते हैं एक भूमिपर दूसरा अन्तरिक्ष में तीसरा स्वर्ग में इस का चरण चतुर्दश भुवनमय ब्रह्माण्ड में सम्यक् अन्तर्भूत होता है

रूपरूपंप्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ताह्यस्य हरयः शतादश ॥ ऋ० अ०४ अ० ७ व० ३३ मं० १८॥

सायणभाष्यम्—

अयमिन्द्रः प्रतिरूपो रूपाणां प्रतिनिधिः सन् रूपंरूपं तत्तदग्न्यादिदेवतास्वरूपं बभूव प्राप्नोति भूप्राप्तावितिधातुः इन्द्रः स्वमाहात्म्येनतत्तद्देवतारूपो भवतीत्यर्थः ।अस्यचेन्द्रस्य तत्प्राप्तमग्न्यादिदेवतास्वरूपं प्रतिचक्षणाय प्रति नियत दर्शनाय अयमग्निरयं विष्णुरयं रुद्रइत्येवमसंकीर्णदर्शनाय भवति अपिचायमिन्द्रोमायाभिः ज्ञाननामैतत् ज्ञानैरात्मीयैः संकल्पैः पुरुरूपो बहुविधशरीरः सन् ईयते बहून्यजमानान् गच्छति ननुद्वावेवास्याश्वौ एकश्च रथः कथमनेन युगपद्बहून् गच्छतीत्यत आह—अस्येन्द्रस्य हरयोश्वाः युक्ता रथे योजिताः शतादश सहस्रसंख्याकाः अपरिमिताः सन्ति हि यस्मादेवं तस्माद्बहुशरीराणिस्वीकृत्य युगपद्बहिष्मतो यजमानान् गच्छतीत्यर्थः अन्ये मन्यन्ते इदि परमैश्वर्ये इत्यस्यधातोऽर्थानुगमादिन्द्रः परमात्मा सचाकाशवत् सर्वगतः सदानन्दरूपः स एवोपाधिभिरन्तःकरणैः प्रतिशरीरमवच्छिन्नः सन् जीवात्मेति व्यपदिश्यते स एव अनादिमायाशक्तिभिः

वियदादिजगदात्मना विवर्त्ततेशब्दादिविषयहरणशीलाःइन्द्रिय-वृत्तयश्चतेनैवसंबद्धाः एतत्सर्वं तस्य परमात्मनो यद्वास्तवं रूपं तस्य दर्शनायेति। अयमर्थोऽनया प्रतिपाद्यते रूपं रूपं रूप्यत इति रूपं शरीरादि प्रतिशरीरं चिद्रूपः सर्वगतः परमात्मा प्रतिरूपः प्रतिबिम्बरूपः सन् सर्वाणि शरीराणि बभूव प्राप्नोति तच्च प्राप्तं प्रतिबिम्बरूपं अस्य परमात्मनः प्रतिचक्षणाय प्रतिनियताकार-स्य दर्शनाय भवति सचेन्द्रः परमेश्वरः मायाभिर्याशक्तिभिः पुरुरू-पः वियदादिभिर्बहुविधरूपैरुपेत सन्नीयतेचेष्टते एतदपि अस्य परमा-त्मनः प्रतिचक्षणाय भवति अस्य च दशशता सहस्रसंख्याका हरयः इन्द्रियवृत्तयः युक्ताः विषयग्रहणायोयुक्ताः सन्ति तद-पि अस्य वास्तवरूपस्य दर्शनाय भवतीति एवंस्थूलसूक्ष्मशरीर-योर्वियदादि महाप्रपंचस्य चतत्त्वज्ञानहेतुत्वमनयाप्रत्यपादीति।१८।

भाषार्थ-

इन्द्र सब रूपों का प्रतिनिधि होकर प्रत्येक रूप के लिये अग्न्यादि देवतास्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र ही अपने महत्त्व के प्रभाव से सब देवतास्वरूप होजाता है और इस इन्द्र के अग्न्यादि देवता स्वरूप के दर्शाने के लिये यह अग्नि है यह विष्णु है यह रुद्र है इत्यादि रूप होजाते हैं और बात यह है कि यह इन्द्र अपनी (माया) अपने ज्ञानों से बहुत प्रकार के शरीर धारण कर लेता है, इस में प्रश्न यह होता है कि उस के तो दो ही घोड़े हैं फिर एक ही समय में बहुत स्थानों में कैसे जासक्ता है ? इस का उत्तर यह है कि इस इन्द्र के रथ में जुते हुए घोड़े सहस्रों हैं इसलिये बहुत शरीरों को धारण करके विषम स्थानों में स्थित यजमानों के पास जासकता है ।

कई लोग इस के यह अर्थ भी मानते हैं कि "इदि" परमैश्वर्ये इस धातु से इन्द्र शब्द बनता है और वह परमात्मा है आकाश के

समान सर्व व्यापक है और सदाआनन्द स्वरूप है और वही अन्तः-करण की उपाधि से प्रति शरीर में परिच्छिन्न होकर जीवात्मा कहाजाता है और वही अनादि माया शक्ति से आकाशादि जगत् रूप से सब जगत् स्वयं बन जाता है और यह जो उस परमात्मा का वास्तव स्वरूप है उस के दर्शाने के लिये ऐसा होता है यह अर्थ इस ऋचा से प्रति-पादन किया गया है कि सब शरीरों में चिद्रूप सर्वव्यापक परमात्मा प्रतिबिम्ब होकर सब शरीरों को प्राप्त होता है । और यह प्रतिबिम्ब रूप उस परमात्मा के नियत स्वरूप दिखलाने के लिये उपयोगी है । और इस परमात्मा के सहस्र संख्या वाले (हरिः) इन्द्रियों की वृत्तियें विषय ग्रहण के लिये नियुक्त हैं, और वे भी इसके वास्तव स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये ही हैं इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म शरीरों का और आकाशादि महा प्रपंच का तत्व इस मंत्र द्वारा प्रतिपादन किया गया है ॥ *

भाषार्थ ज्वालाप्रसाद मिश्र-

परमात्मा अपनी शक्ति से अनन्त अवतारादिरूप होकर प्रतीत होता है, अपने प्रभाव को प्रत्यक्ष कराने वाले जैसे २ रूप को माया प्रादुर्भाव करती है तत्सदृश होकर आप भी प्रतीत होता है और पर-मात्मा के जगत् रक्षक अनंत ही रूप जगद्रक्षा में हैं और दशरूप तो अति प्रसिद्ध हैं ॥

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ ऋ० अ० २ अ० २ व० २४ मं० ॥ १ ॥

---

* नोट-यहां सायण भी इस दूसरे अर्थ से अवतार वादियों के अर्थ को मिटागया और पहले अर्थ में अपनी अरुचि दर्शागया ।

सायणभाष्यम्—

हे नराः विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नुकं अतिशीघ्रंप्रबोचं प्रब्रवीमि अत्र यद्यपि नुकामिति पदद्वयं तथापि यास्केन नवोत्तराणि पदानीत्युक्तत्वात् शाखान्तरे एकत्वेन पाठाच्चनु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नुकामिति पदद्वयम् कानि तानीति तत्राह—यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रंजनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीनि अग्निवाय्वादिन्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे अत्र त्रयोलोकाअपि पृथिवी शब्दवाच्याः तथाच मन्त्रान्तरम्—"यदिन्द्राग्नि अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुतस्थइति"—तैत्तिरीयेपि "योस्यांपृथिव्यां अस्यायुषेत्युपक्रम्य योद्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्यामिति" । तस्माल्लोकत्रयस्यपृथिवीशब्दवाच्यत्वम् । किंच यश्च विष्णुरुत्तरं उद्गततरं अतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतं अन्तरिक्षं अस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्कंभितवान् निर्मितवानित्यर्थः अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपिसृष्टवानित्युक्तंभवति । यद्वा यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान् रजः शब्दो लोकवाची लोका रजांस्युच्यन्त इति यास्केनोक्तत्वात् किंच यश्च उत्तरं उद्गततरं उत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोकसप्तकं अस्कभायत् स्कंभितवान् सृष्टवानित्यर्थः स्कंभे स्तंभुस्तुंभ्वित्यादिहितस्यश्नः छन्दसि शायजपीति व्यत्ययेन शायजादेशः अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानिरजांसि लोकान्विममे भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरलोकानां

तत्कारणत्वं किंच यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम् अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वं सधस्थं उपासकानां सहस्थानंसत्यलोकं अस्कभायत् स्कंभितवान् ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः किं कुर्वन् त्रेधा विचक्रमाणः त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान्विविधं क्रममाणः विष्णोस्त्रेधा क्रमणं इदं विष्णुर्विचक्रमे इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धं अतएवोरुगायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः अति प्रभूतं गीयमानो वा यएवं कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणिप्रवोचन।

भाषार्थ-

हे पुरुषो! विष्णु व्यापनशील देव के कर्मों को मैं कथन करता हूं जो विष्णु पृथ्वी आदि लोकों का स्वामी है और जिस विष्णु ने अग्नि वायु आदित्य लोकों को निर्माण किया, और जो विष्णु अति विस्तार वाला है और तीनों लोकों का आश्रय है तथा अन्तरिक्ष को जिसने बनाया है। अथवा जिस विष्णु ने सप्त लोकों को रचा है, और जो पुण्यात्मा का निवास स्थान है, भूरादि सातलोक जिसने रचे हैं और जो उपासकों के लिये सत्य लोक है, उसको जिस ने दृढ़ किया है, क्या करते हुए? तीन प्रकार से अपने बनाए हुए लोकों को आक्रमण करते हुए यह बात "इदंविष्णुर्विचक्रमे" इसमें प्रसिद्ध है। ऐसा विष्णु जो महात्मा पुरुषों से गान किया गया है उस के वीर्य्य को मैं कथन करता हूं।

महीधरभाष्यम्-

का० (८।४।६) उत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नुकमिति दक्षिणशकटस्याग्रं वोढुमाधारभूतंकाष्ठं स्थापयेदित्यर्थः॥ तिस्रो वैष्णव्यस्त्रिष्टुभः आद्ये यजुरन्ते। विष्णवेत्वेति यजुः॥ नुकमित्यव्ययमवधारणार्थम्। विष्णोरेव

वीर्याणि कर्माण्यहं प्रवोचं प्रब्रवीमि । प्रपूर्वस्य वचेर्लुङि रूपम् वचेरुम् अडभावः ॥ कानि कर्माणीत्याह । यो विष्णुः पार्थिवानि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थानानि विममे निर्ममे । लोका रजांस्युच्यन्त इति यास्कोक्तेः (निरु० नै० ४, १९) रजः शब्दो लोकवाचकः यद्वा यः पार्थिवानि रजांसि पार्थिवपरमाणून् विममे परिगणितवान् । यश्च विष्णुरुत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहवासस्थानं द्युलोकरूपमस्कभायत् यथाऽधो न पतति तथा स्तम्भितवान् । सहदेवा तिष्ठन्तियस्मिन् तत्सधस्थम् । सधमादस्थयोश्छन्दसीति (पा० ३, ६, ९६) सहस्य सधादेशः स्कम्भरोधने । क्र्यादिभ्यः श्ना । हलः श्नः शानज्झाविति (पा० ३ । १ । ८३) हेरनुवृत्तौ । छन्दसिशायजपीति (पा० ३ । १ । ८४) यद्यपिहौ परे श्ना प्रत्ययस्यशायजादेशो विहितस्तथाप्यत्रव्यत्ययो बहुलमिति (पा० ३ । १ । ९५) लङ्यपिश्नः शायजादेशे अस्कभायदितिरूपम् ॥ कीदृशो विष्णुः ? त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिषु लोकेष्वग्निवायुसूर्यरूपेण पदत्रयं निदधानः । विपूर्वस्य क्रमतेर्लिटः कानज्वेति (पा० ३ । २ । १०६) कानचिरूपम् । तथा उरुगायः उरुर्गायोगमनं यस्य उरुभिर्महात्मीभर्गीयत इतिवा ॥ (का० ८ । ४ । ७) दक्षिणतः स्थूणा मुपनिहन्ति विष्णवेत्वेति ॥ हेस्थूणे काष्ठ! विष्णवे हविर्धानशकटाभिमानिविष्णुप्रीत्यर्थं त्वां निहन्मि निखनामीति शेषः ॥ १८ ॥

भाषार्थः—

मैं विष्णु के वीर्य्य को कथन करता हूं जिस विष्णु ने पृथ्वी अन्तरिक्ष द्युलोक स्थानों को रचा है ।

अथवा जिस के ज्ञान में पृथ्वी आदि के परमाणु हैं जो विष्णु द्युलोक का आधार है फिर वह विष्णु कैसा है! जिसने त्रेधा विक्रमण किया है अर्थात् अग्निवायु सूर्य्य रूप से जिसने पदत्रय को रक्खा है।

नोट----यहां महीधर ने भी इस बात को साफ़ कर दिया कि पदत्रय अग्नि वायु सूर्य्य रूप ही थे जो परमात्मा की शक्ति से तीन प्रकार के हैं ॥

अर्थ बालकराम—

यह यजुर्वेद के अ० ५ का १८ मंत्र है और ऋग्वेद के प्रथम मंडल अष्टक २ अध्याय २ वर्ग २४ अनुवाक २१ सूक्त १५४ का १ मन्त्र है, विष्णु अर्थात् सर्वत्र व्यापक जो परमात्मा है, उस के किस वीर्य्य पराक्रम को मैं उपासक कथन करूं, अर्थात् अनन्त वीर्य्य ज्ञानैश्वर्य्य वैराग्यशाली परमेश्वर के गुण पराक्रमों को मैं कैसे कथन करूं! क्योंकि विना गुण ज्ञान पराक्रम कथन करना असंभव है सो पराक्रम ज्ञान पराक्रमोंके अनन्त और अचिन्त्य होने से दुर्घट है इस से परमात्मा की महिमा अनन्त और अपार है यह सिद्ध भया, सो परमात्मा कीदृश है?—जोपरमात्मा तीन प्रकार से पादों का न्यास करता हुआ प्रथम पादन्यास से इस पृथ्वी लोक को मापता भया, और दूसरे पादन्यास से अन्तरिक्ष लोक को मापताभया, और तृतीय पादन्यास से स्वर्गादि लोकों को मापताभया, फिर कीदृश है? कि (उरुगायः) कृष्णादिरूपों से अनेक प्रकार जिस परमात्मा को ऋषिमुनि कीर्तन करें हैं ॥

एवं अन्य भी यजुर्वेद का एक मन्त्र वामनावतार का प्रति पादक है ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे । य० अ० ५ मं०१५

तद्विष्णोः परमंपदꣳसदापश्यन्ति
सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्॥ य०अ० ६ मं० ५

महीधरभाष्यम्—

का० (६, ३, १३) तद्विष्णोरिति चषालमीक्षमाणमिति । यूपकटकं प्रेक्षमाणो यजमानं वाचयेदिति सूत्रार्थः ॥ सूरयो विद्वांसो वेदान्तपारगा विष्णोः तत्परमंपदं स्वरूपं सदा पश्यन्ति । कीदृशम् ? दिवि आकाशे निरावरणे चक्षुरिवाततं व्याप्तम् । यद्वा यत् दिवि आकाशे चक्षुरादित्यमण्डलमाततं विस्तारितम् इवोअनर्थ कः चक्षुः शब्देनान्यत्रापिमंडलमुच्यते चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य (७, अध्या० ४२ मं०, तच्चक्षुर्देवहितम् (अध्या० ३६ मं० २४)

भाषार्थ—

(सूरयः) विद्वान् लोग वेदान्तपारग उस विष्णुके परमपद को अर्थात् स्वरूप को सदा देखते हैं, वह कैसापद है ? जो कि निरावरण आकाश में चक्षु की तरह व्याप्त है । अथवा जो पद आकाश में चक्षुरूप आदित्य मंडल से विस्तार किया गया है

नोट—यह मंत्र यहां इस अभिपाय से दिया गया है कि यहां विष्णु के पद के अर्थ सब ने स्वरूप के ही माने हैं, सायण भाष्य यहां विस्तार के भय से नहीं दिया, सायण में भी यही आशय है इस से स्पष्ट हो गया कि " इदं विष्णुर्विचक्रमे " इस मन्त्र में भी पद के अर्थ पैर के कदापिनहीं हो सकते।

समुद्रोसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसि ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्रमातिरस्वास्तिमेऽस्मिन्पथि देव याने भूयात् । यजु०अ०५मं०३३

महीधर भाष्यम्-

ब्रह्मासनम् हेब्रह्मासन ! त्वं समुद्रः विश्वव्यचाश्चासि सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रवन्त्यवेति समुद्रः समुद्र इवागाधो ज्ञानेन ब्रह्मा यत्र तिष्ठतीतिवा । विश्वंसर्वयज्ञं व्यचति गच्छति कृताकृतप्रत्यवेक्षणायेति विश्वव्यचाः । शालाद्वार्य्यम् हेप्राचीनवंश शालाद्वारवर्त्तिन्नग्ने ! त्वमजोऽसि अजति आहवनीयरूपेण यज्ञप्रदेशे गच्छतीत्यजः यद्वा परब्रह्मत्वमुपचर्य्यते नजायत इत्यजः । एकः पातीत्येकपात् यद्वा एकः पादः सर्वाणि भूतानि यस्येत्येकपात् पादोऽस्यविश्वा भूतानीतिश्रुते ।"प्राजहितम्" पत्नीशालापश्चिमभागवर्त्ती पुरातनो गार्हपत्योग्निःप्राजाहित उच्यते हे प्राजहित ! त्वमहिरसि न हीयत इत्यहिः शालाद्वार्ये नूतने गार्हपत्य उत्पन्नेपि अयमग्निः स्वरूपेण न हीयते । बुध्नो मूलं तत्र भवो बुध्न्यः आधानकाले प्रथमपाहितत्वान्मूलभावित्वम् स हि प्रथमं मथ्यते ॥ नामभिरवात्रिषण्यां स्तुतिः । उक्तंच । स्तुतिः स्वनाम्ना कर्म्मणा वाथरूपैरिति ॥ का० (९. ८, २२) वागसीति सदोऽभिमर्शनमिति ॥ हे सदः ! त्वं वागसि वाचास्मिन् कर्म कुर्वन्तीति वाक् शब्देनाभेदोपचारेण सद उच्यते । ऐन्द्रमिन्द्रदेवताकं चासि । सीदन्त्यस्मिन इतिसदः ॥ (का०९,८,२३) ऋतस्यद्वारावितिद्वार्यं इति । द्वार्ये सदो द्वारशाखे अभिमृशतीति सूत्रार्थः ॥ हे ऋतस्य यज्ञस्य द्वारोद्वार देशस्थायिन्यौशाखे!युवां मा मां मा सन्ताप्त मा सन्तापयितं प्रवेशनिष्क्रमणे खलनादिना । तपतेर्लुङि मध्यमैकवचने झलोझलीति (पा०८,२,२६) सिज्लोपेरूपम् ॥ (का०५. ८,२४-२५) अभिमंत्रणमुत्तरैरध्व नामध्वपतइति सूत्रार्थम् । उत्तरैस्त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रयाणामभिमंत्रणं

दर्शनमित्यर्थः तत्राध्वनामिति सूर्यमभिमन्त्रयत इति सूत्रार्थः॥ अध्वपते मार्गपालक रवे! अध्वनां मार्गाणां मध्ये वर्तमानं मा मां त्वं प्रतिर प्रवर्धय तिरतिर्वृध्यर्थः। किञ्च अस्मिन् देवयाने देवयान-प्रापके पथि यज्ञमार्गे मे मम स्वस्ति कल्याणं भूयात् ॥

भाषार्थः—

हे ब्रह्मासन! तू समुद्र है और विश्वव्यचा है जिसको सब विश्व प्राप्तहो उसको विश्वव्यचा कहते हैं सबदेव उत्कर्ष करके जहां द्रवणकरें उसको समुद्र कहते हैं समुद्र के सम गम्भीर ब्रह्मा उस आसन पर बैठता है इ-सलिये उसको समुद्र कहागया है और हे प्राचीन बांस की शाला के द्वार पर रहनेवाले अग्ने! तुम अज हो, अज इसलिये हो कि आहवनीय रूप से यज्ञप्रदेश को प्राप्त होते हो। अथवा यहां अग्नि में परब्रह्म का उपचार किया गया है कि "न जायतइत्यजः" फिर तुम कैसे हो? एकपाद् हो अर्थात् एकही सबको पवित्र करते हो अथवा एकपाद स्थानी हैं सबभूत जिसके उसको एकपाद कहते हैं फिर तुम कैसे हो? प्राजहित हो, प्राचीन गार्हपत्याग्निका नाम प्राजहित है, और फिरतुम अहि हो अर्थात् तुम्हारा नाश नहीं होता, शालाके द्वारके नूतन गार्ह-पत्यमें तुम उत्पन्न होकर भी स्वरूप से नाश नहीं होते इसलिये तुम अहि हो तुम वाक् हो और ऐन्द्र हो, तुम सदहो, हे(ऋत) यज्ञ के द्वारदेशमें रहनेवाली शाखो! तुम मुझको संतप्त मत करो, और हे अध्वपते मार्गके पालक सूर्य्य! मार्गोंके मध्य में मेरी तुम वृद्धि करो। किंच इस देवयान को प्राप्त करने वाले मार्ग में मेराकल्याण हो ॥

अर्थज्वालाप्रसादामिश्र -

हे भगवन्! आप(विश्वव्यचाः)"विश्वं बहुरूपं व्यनक्तीति विश्व-व्यचाः" अपने में बहुरूपोंको प्रगट करनेवाले समुद्रवत् विस्तृत हो जैसे

समुद्र अपने में तरंग बुदबुद अपने से अनन्य स्वाभाविक प्रगट करता है तद्वत् आपभी अपने बहुरूप अवतार प्रगट करते हैं [प्रश्न] यदि अनेक अवतार हुए तो परमात्मा को जन्मवत्व होना चाहिये (उत्तर) "अजोऽसि एकपात्" एकपादरूप हे भगवन्! आप यद्यपि माया सहित हैं तथापि त्रिपाद आपका रूप (अज) सर्वथा जन्म प्रतीति शून्य है सोई श्रुत्यन्तर में कहाभी है ॥

त्वंस्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमारो उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दंडेन वंचसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः । अथर्व० कां० १० अ० ४ मं० २७

इस मंत्रपर सायण का भाष्य नहीं है पर स्वामी शंकराचार्य का भाष्य है और वह भी हमारे सनातन भाइयों केलिये सायण से न्यून नहीं है वह इसप्रकार है । अंशाधिकरण में जहां स्वामीजी ने सब वस्तुओं को ब्रह्म सिद्ध किया है वहां यह कहा है कि कैवर्त्त (मछलीपकड़नेवाले) और दास जो स्वामी के लिये अपना आत्मा अर्पण करते हैं और कितव (जुएकी वृत्ति से निर्वाह करनेवाले) ये सब ब्रह्म ही हैं । यहां नचि जन्तुओं के दृष्टान्त से यह सिद्ध किया गया है कि सब जीव जो नाम रूपकी उपाधि से ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होते हैं उन सब को ब्रह्म कथन किया गया है, इसी प्रकार और जगह भी ब्रह्म के प्रकरण में सब जीवों को ब्रह्म बतलाया गया है कि जैसे कि त्वं स्त्री त्वं पुमानसि इत्यादिकों में । यहां स्वामीजीने सर्वात्मवाद में इस मंत्र की व्याख्या की है नकि अवतार वाद में इस को मिथ्यार्थ समीक्षण में विस्तार पूर्वक लिखा है इसलिये यहां विस्तार नहीं किया जाता । केवल उस

सनातनी भाई का भाष्य लिखकर इस मन्त्र का दृश्य दिखलाया जाता है जिस ने सब अवतारों का भण्डार इस मंत्र को समझा है।

अर्थ ज्वालाप्रसाद भार्गव—

हे भगवन्! आप ही भारती भवानी श्रीरूप वा मोहिनी रूपअवतारों से स्त्री रूप हैं तथा परशुरामादि अवतारों से पुमान् हैं वामन अवतार से कुमार हैं वा सनत्कुमारादिरूप से और कन्यारूप वैष्णवी दुर्गादिरूपसे कुमारी हैं और आप ही वृद्ध ब्राह्मण हो कर दण्ड करके वंचसि गमन करते हो आप ही कृष्णावतार में विश्वरूप होके प्रतीत होते हो।

इस मन्त्र में सब ही इतिहास पुराण प्रतिपाद्य अवतारोंकी सूचना की है इस कारण यह मंत्र ही सब का मूल है।

उक्त मंत्रों के सायणाचार्य्यादिकों के अर्थोंसे यह शङ्का होगी कि वेदों में अग्न्यादि जड़ पदार्थों की उपासना है। जैसे—"भद्रो भद्रया सचमानः" इत्यादि मंत्रों के अर्थों में सायणाचार्य्य ने स्पष्ट कर दिया है कि यहां अग्नि देवता का वर्णन है। एवं राम कृष्णादि अवतार यदि सिद्ध न हुए तो वेदों में जड़ वस्तुओंकी उपासना पाए जाने का दोष लगा, यदि वैदिक लोग प्राचीन आर्य्य अग्न्यादिकों को ईश्वर मानते थे तो आधुनिक जो रामकृष्णादिकों को कोई ईश्वर मानते हैं उन से आर्य्यमन्तव्यों की क्या उच्चता हुई?।

इस शङ्का का उत्तर यह है कि इस अर्थाभास निदर्शन प्रकरण में सायणादि आचार्य्यों के भाष्य इस अभिप्राय से नहीं दिये गये कि यह भाष्य हमें सर्वथा मन्तव्य हैं किन्तु इस अभिप्राय से दिये गये हैं कि वादी लोगों के अर्थों को उन के सायणादि सनातन आचार्य्य

भी नहीं मानते, सायणादि भाष्यकारों का आशय हमने स्पष्ट बतलाना था कि सायणादि राम कृष्णादि अवतारों के पक्षपाती न थे।

रही यह बात कि हमारे मन्तव्यों में उक्त मंत्रों के क्या २ अर्थ हुए जिन से मंत्रों का आशय स्पष्ट ज्ञात हो कि उक्त मंत्र किन २ मन्तव्यों को वर्णन करते हैं और इन में जड़ अग्न्यादिकों की उपासना है वा नहीं ? इस संदेह की निवृत्ति के लिये हम "भद्रो भद्रया" इत्यादि मंत्रों का आशय वर्णन कर देते हैं।

इस से प्रथम यहां हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि हमारा यह मन्तव्य नहीं कि वेदों में अग्न्यादि जड पदार्थों का वर्णन नहीं। अग्न्यादि जड़ पदार्थों का वर्णन पूर्ण रीति से वेदों में पाया जाता है और ऐसा होना अवश्य चाहिये भी था जब वेद मनुष्य के धर्म्मार्थ काम मोक्ष इस फल चतुष्टय की सिद्धि के लिये हैं फिर उन में धर्म्मार्थकामोपयोगी पदार्थों का वर्णन कैसे न हो, वेदों में अनेक स्थानों में "अग्नि" अग्निहोत्रादि धर्म्म के लिये वर्णित है, अनेक स्थानों में सांसारिक "अर्थ" धनोपार्जन के उपयोगी होने से अग्नि के गुणों का वर्णन है एवं अन्य स्थानों में मोक्षोपयोगी होने से अग्नि का वर्णन है इस प्रकार वेद अग्न्यादि विद्याओं से भरा पड़ा है जिस को देख कर बहुत लोगों को यह आशङ्का हो जाती है कि वेदोंमें अग्न्यादि जड़ पदार्थों का वर्णन ही भरा पड़ा है और कुछ नहीं, सत्य है ऐसी शङ्का करने वालों का अपराध भी क्या है जब कई एक भाष्यकार जड़ पदार्थों के वर्णन और उपासना विषयक ही वेदों के अर्थ मानते हैं ? हम दृढ़ता से कहते हैं कि यह उन भाष्यकारों की भूल है जो अग्न्यादि जड़ पदार्थों के उपास्य होने में वेद को लगाते हैं और प्रायः जड़ पदार्थों के वर्णन में ही वेदाशय वर्णित करते हैं, जब

वेद का आशय "अग्ने नय सुपथा" इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट है कि यहां अग्नि ईश्वर का ही नाम है, यहां सुमार्ग प्राप्ति की अग्नि=ईश्वर से ही प्रार्थना है किसी जड अग्न्यादि देवता से नहीं। यह मंत्र यजु० अ० ४० का सोलहवां है इस अध्याय के प्रथम मंत्र में निराकार ईश्वर का वर्णन स्पष्ट है क्योंकि प्रथम मंत्र से लेकर इस सोलहवें मंत्र तक किसी जड देवता का नाम तक नहीं आया प्रत्युत "स्वयम्भू" आदि शब्दों से ईश्वर का ही वर्णन है इस बात को सब भाष्यकार मानते हैं फिर यह सोलहवां मंत्र और इससे आगे का सत्तरहवां मंत्र, जड़ अग्नि और सूर्य की प्रार्थना में कैसे लगसकता है। महीधर ने १६ और १७ इन दो मंत्रों को अग्नि देवता और सूर्य्य देवता से प्रार्थना में लगाया है उक्त मंत्रों का जड़ अग्नि सूर्यादि में लापन करना वेद के आशय से सर्वथा विरुद्ध है ॥

यदि यह कहा जाय कि अग्नि सूर्यादिकों के अभिमानी देवता चेतन हैं उन से प्रार्थना की गई है। यह वादी का कथन युक्ति और प्रमाण से कदापि उपपादन नहीं हो सकता क्योंकि जिन मंत्रों में अग्न्यादि जड़ पदार्थों की उत्पत्ति कथन की गई है जैसे— "मुखादग्निरजायत" इत्यादि इस उत्पत्ति में अग्नि देवता कोई चेतन पदार्थ भिन्न नहीं माना गया, यदि अग्नि का अग्नि देवता भिन्न होता तो उस की उत्पत्ति भी वर्णन की जाती। और सर्वान्तरात्मा. परमात्मा से भिन्न एक २ जड़ पदार्थ का भिन्न देवता उपपादन भी नहीं हो सकता, यदि एवं सब भिन्न२ देवताओं वाले ही जड़ पदार्थ होते तो "एको हि देवः प्रदिशो नु सर्वाः" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यादि वेदोपनिषद् सब में एक देव का कथन न करते, एवं अग्नि आदि भौतिक पदार्थ जड़ हैं यह सिद्ध हुआ, फिर इन भौतिक पदार्थों की उपासना में जो "अग्ने नय सुपथा" इत्यादि मंत्रोंको महीधर

सायणादि आचार्य्यों ने लगाया है वह वेद के आशय से सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि यहां पर अग्नि परमात्मा का नाम था एवं कई एक मंत्रों में अग्निशब्द परमात्मा के लिये आया है जैसे "अग्नेव्रत पतेव्रतं चरिष्यामि" यजु० अ० १ मं०५ इस मंत्र में और "तदेवाग्नि स्तदादित्यः" य०अ० ३२ मं०१इस मंत्र में अग्नि परमात्मा का नाम है एवं जहां २ अग्नि से प्रार्थना वा अग्नि की उपासना की गई है वहां २ परमेश्वर का नाम ही अग्नि है किसी जड़ अग्नि की उपासना नहीं।

यह हमारा अर्थ कई एक लोगों को बहुत शङ्कनीय होगा कि यह क्या ? अग्नि परमेश्वर का नाम तो आज ही सुना है अग्न्यादि की पूजा वेद में हैं इस भय से अर्थ बदले जाते हैं। इस का उत्तर यह है कि उस अज्ञान के समय में जब लोग वेदार्थ भूलकर अग्न्यादि जड़ पदार्थों की पूजा करने लगे उस समय से यह विचार सर्वथा उठ गया कि अग्नि परमेश्वर का नाम भी कभी था वा नहीं, अन्यथा यह प्रसिद्ध बात कब यहां तक उठ जाती कि अग्नि ईश्वर की उपासना कहने से वेद में भी भौतिकाग्नि ही समझी जाय, इस अवस्था में व्यास को भी अपने ब्रह्म सूत्र के समन्वयाध्याय में अग्न्यादि शब्द का ब्रह्म में "समन्वय" सम्बन्ध दिखलाना पड़ा। देखो वैश्वानराधिकरण, इस अधिकरण में परमेश्वर का अग्नि नाम माना गया है। "तस्य ह वा, एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाः" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में वैश्वानर अग्नि का नाम नहीं माना किन्तु परमात्मा का नाम माना है, इसी अधिकरण में "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः" १।२।२८ इस सूत्र में जैमिनि ऋषि की सम्मति से यह निरूपण किया है कि अग्नि शब्द साक्षात् ब्रह्म का वाचक है जिस पर स्वामी शङ्कराचार्य्य

यह भाष्य करते हैं कि "अग्नि शब्देऽप्यग्रणीयत्वादि योगाश्रयणेन परमात्मविषय एव भविष्यति" अर्थ—अग्निशब्द अग्रणी (सर्वोपरि) सब से प्रथम श्रेष्ठ होने के अर्थों में जब आता है तो परमात्मा का नाम ही आता है।

एवं मीमांसा करने से अग्नि परमेश्वर का भी नाम पाया जाता है फिर क्या अग्नि का अर्थ ईश्वर वेदों में छोड़ा जा सकता है! कदापि नहीं, जिन लोगों ने इस अर्थ का वेदों में परित्याग किया है उन्होंने सर्वथा धोखा खाया है देखो—

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः"

इस का महीधर ने यह अर्थ किया है कि वह परमात्मा अग्न्यादि पदार्थों में ओत प्रोत है इसलिये उस की अग्नि आदित्यादि जड़ पदार्थों में उपासना विधान की गई है, यहां अग्नि का अभिमानी देवता तो उड़गया पर महीधर की समझ में अग्नि का अर्थ जड़ का ही रहा। स्वामी शङ्कराचार्य्य इस मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि "तदेवात्मतत्त्वमग्निः तदादित्यः" इत्यादि वही आत्मतत्व अग्नि और आदित्यादि है यद्यपि बाध समानाधिकरण मानकर विवर्त्तवाद के अभिप्राय से भी इस भाष्य का अर्थ किया जा सकता है तथापि अग्नि ब्रह्म का नाम है इस बात को स्वामी शङ्कराचार्य्य ने उल्लङ्घन नहीं किया एवं अग्नि, आदित्य, वायु आदि परमात्माके नाम हैं इस आशय को कई एक वेद के मंत्र स्पष्ट रीति से वर्णन करते हैं, जैसे "शन्नोदेवी रभिष्टय ०" इस अथर्व मंत्र में आपः 'जल' नाम परमेश्वर का है इस प्रकार सार यह निकला कि जब अग्नि, आदित्य, वायु, जल, आ-

दि परमेश्वर के नाम भी पाये जाते हैं तो उक्त नामों वाले पदार्थों की जहां २ उपासना प्रार्थना पाई जाती है वहां २ ईश्वर की प्रार्थना उपासना से अभिप्राय है जड़ वस्तुओं की प्रार्थना उपासना का अभिप्रायः नहीं, यदि जड़ वस्तुओं की उपासना वेद में होती वा भिन्न भिन्न वेदों की उपासना करने का वेदों का सिद्धान्त होता तो येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वस्तभितं येन नाकः । योअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० ३२।६ इत्यादि मंत्रों में यह निर्धारण न किया जाता कि जो पृथ्वी आदि सब लोक लोकान्तरों का आधार है उसी की भक्ति भक्तजन करें, इस मंत्र में महीधर भी यही भाव मानता है कि 'तं विहाय कस्मै देवाय हविषा विधेम हविर्दद्यामः कस्मै त्विदित्यर्थः " अर्थ—ऐसे पृथिव्यादिकों के आधार परमेश्वर को छोडकर हम किस को हविः दें, अर्थात् किसी अन्य को न दें, यह अर्थ है ऐसी अत्यन्त बलपूर्वक दृढ़ता से अनन्य भक्ति वेदों में न होती, यदि जड़ अग्नि आदिकों की पूजा वेद में होती तो, यह मन्तव्य वैदिक लोगों का है इसलिये जड़ पदार्थों की प्रार्थना उपासना का दोष वैदिक लोगों के मत में नहीं लगता, वैदिक लोगों के मत में प्रार्थना व उपासना वाले स्थानों में ईश्वर का नाम अग्नि है । उक्त निर्णय से प्रकरण में यह निश्चय हुआ कि "भद्रो-भद्रया" इस सामवेद के मंत्र में अग्नि परमेश्वर का नाम है क्योंकि इस मंत्र से पूर्व " पाहिविश्वस्माद्रक्षसः " इस मंत्र में यह प्रार्थना है कि हे अग्ने तू धर्म्म में विघ्नकारी राक्षसों से हमारी रक्षाकर फिर इस से आगे के मंत्र में यह प्रार्थनाहै कि हे परमात्मन्! तू हमारे कृष्ण अज्ञा-नरूप कलङ्कों को स्वतेजसे अर्थात् ज्ञानप्रदीप से दूरकर, जिस के अर्थ आधुनिक भार्गव ज्वालाप्रसाद भाष्यकार यह करता है कि परमात्मा

कृष्णदेह अर्थात् काले वर्ण वाले कृष्ण देह को आश्रयण करता है, इस अर्थ की सूझ अभी हमारे वादियों को नहीं पड़ी वरन यह मंत्र भी कृष्णावतार कथा में अवश्य लिख दिया जाता, अस्तु एवं ईश्वर का प्रकरण यहां हमारे आधुनिक अवतार वादियों को भी अभिमत है अब उक्त मंत्र के अर्थ यह हुए कि वह पूर्व मन्त्रों में प्रार्थना करने वाला जीवात्मा "भद्रया" अपनी कल्याणकारिणी इच्छा से संयुक्त हुआ २ परमात्मा की शरण आता है (पश्चात्) फिर परमात्मा उस "स्वसारं स्वस्यसारं स्वसारमात्मानुकूलमित्यर्थः" "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवेषः वृणुते तेनलभ्यः" इस उपनिषद् में वर्णित आशय के अनुकूल उक्त साधन सम्पन्न जीवात्मा को अपने अनुकल "जार" अज्ञानादि दोषों को जलानेवाला परमात्मा अपने ज्ञानरूप प्रदीप्ति आदि कल्याण गुणों से जीवात्मा के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करता हुआ उस के भाव में स्थिर होता है और मल विक्षेपादि दोषों से रहित पुरुषों को पर मात्मा प्राप्त होता है यह इस मंत्र का आशय है।

(२) इस मंत्र में विद्वान् गुरु के प्रति शिष्य का कथन है कि हे गुरो! मैंआपके सत्योपदेश रुपी आकर्षणको प्राप्त होउं जो विद्या ज्योतिवाले आपका विद्यारूपी प्रकाश तेजस्वियों में एक है जिसलिये "अप्रवीता" आपके सत्योपदेश रूपी तत्व को न प्राप्त होती हुई अर्थात् विषय वासनाओं से चपला जो मति है वह आपकी कृपा से आप के उपदिष्ट ज्ञानोपदेशरूपी गर्भ को धारण करती है एवं आप के शरणागत स्वशिष्य के सन्मार्ग दर्शकरूपी दूत आप बनें।

(३) उक्त प्रकार के उपदेश से "सद्योजात" तत्काल द्विजन्मा हुए २ शिष्य का तेज इस प्रकार बढ़ता है जैसे अग्नि वायु से

प्रदीप्त हुआ२ अपनी ज्वालारूप तीक्ष्ण जिह्वा से शुष्क काष्ठों का भक्षण कर जाता है एवं विद्याबल ओजरूप तेज उत्पन्न हुआ है। जिस ब्रह्मचारी में वह ब्रह्मचर्य्य है, जिस से "जम्भै" अपने तेज से अपने शत्रुवर्ग को अग्निवत् भक्षण कर जाता है।

(४) इस मंत्रमेंभी विद्वानों के गुणों का वर्णन है जैसे बहुत दूध वाली गौएं दूध पिलाती हैं और जैसे सूर्य्य की किरणों द्वारा मेघ से वर्षा आती है जैसे सिन्धु आदि नदियें स्वजल प्रदान से प्रदेशों में वृष्टि करती जाती हैं एवं विद्वान्लोग सत्योपदेश की वृष्टि करें।

इसी मंत्र से कृष्ण की गौएं और गोवर्द्धन पहाड़ अवतार वादियों ने निकाला है जिसका गंधमात्र भी मंत्रार्थ में नहीं पाया जाता।

(५) ऋ० मं० १० सू० १३५ मं० १"यस्मिन् विश्वानि काव्या"इति(यस्मिन्) जिस में (विश्वानि) सब(काव्या)ज्ञान (चक्रे) चक्रमें (नाभिरिव) नाभिकेसम (श्रिता) आश्रित हैं जो इस प्रकार यथावस्थित वस्तुओं का संयोग करता है जैसा कि (व्रजे) गौएं के ठहरने की जगह में (गावः) गौओं को नियुक्त करता है (युजे) युद्ध में (अश्वान्) घोड़ों को नियुक्त करता है वह परमात्मा (समे) सब (अन्यके) और प्रति पक्षीदल को (नभन्ताम्) मारे, उस परमात्मा में (त्रितं जूतिः) तीन प्रकार की सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप गति (सपर्य्यत्) प्राप्त है।

(६) "अपिबत्कद्रुवः" इस छठे मंत्र का अर्थ यह है कि (इन्द्रः) सूर्य्य अपनी (सहस्रबाहु) सहस्र किरणों के अर्थ (कद्रुवः) जल बहाने वाली नदी समुद्रादिकों से उसके (सुतम्) जलको पान करता है। यहां ऐसा पान करने से (पौंस्यम्) उसका वीर्य्य (आददीष्ट) दीप्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थ इस मंत्र का यह हुआ कि सूर्य्य सहस्रबाहुरूपी किरणों स जलका आकर्षण करता है और उससे उसका वृष्ट्यादि करने का वीर्य्य बढ़ता है।

और मंत्रों का आशय वहां २ ही निरूपण कर दिया जायगा जहां २ उन के मिथ्यार्थों का समीक्षण किया जायगा, इस अर्थाभास प्रकरण में विशेष दर्शाने योग्य यह बात है कि जो अवतारवादियों के मत में अवतार बोधक मुख्य मंत्र मान गये हैं उन में भी अवतार का बीज नहीं पाया जाता, जैसे कि "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इस ऋग्वेद के मंत्र को सब अवतार वादी बड़ी प्रबलता से प्रमाण दिया करते हैं, यह बात तो पाठक सायण भाष्य से ही जान चुके होगें कि सायण ने उक्त मंत्र के दोनो अर्थों में अवतार नहीं माना, पहले अर्थ में यह माना है कि इन्द्र देवता अनेकरूप धारण कर यजमानों के यज्ञों में आता है। और दूसरे में यह माना है कि इन्द्र परमात्मा मायोपाधि से अनेक रूप होकर स्वयं जीव बनजाता है। उक्त दोनों अर्थों से अवतार सिद्ध नहीं होता।

एवं "विष्णोर्नुकं वीर्य्याणि प्रवोचम्" इस मंत्र में व्यापक विष्णु के वीर्य्यबल का व्याख्यान किया गया है "यः पार्थिवानि विममे रजांसि" इसके सायणादि सब भाष्यकारों ने यही अर्थ किये हैं कि जिस व्यापक परमात्मा वे (पार्थिवानि रजांसि) पृथ्वी अन्तरिक्ष द्युलोकादि-स्थानों को निर्माण किया। यही सायण और महीधर कहते हैं इस मंत्र का आशय साकार वा अवतार के वर्णन में किसी प्रकार भी नहीं निकल सकता पर हमारे अवतारवादी स्वामी बालकराम पं० साधुसिंहादियों ने इस मंत्र में भी तीन पैर से पृथ्वी मापने का आशय जोड़दिया कि "यः, त्रेधा त्रि प्रकारं विचक्रममाणः पादन्यासं कुर्वन् सन् पार्थिवानि भूमि सम्बन्धीनि रजांसि विममे"

अर्थ— जो विष्णु ने तीन प्रकार से पैर रख कर तीनों लोकों को गिना, इस अर्थ से बलि छलने वाला अवतार निकाला, यही अर्थ स्वामी बालकराम ने किया है एवं उक्त मंत्रों के ऐसे मिथ्यार्थ किये हैं जिनको देखकर वैदिक पुरुषों का हृदय भय भीत होता है कि एवं अनर्थ होते गए तो न जाने थोड़े ही दिनों मे वेद में क्या २ भाव भर जायगा।

एवं "समुद्रोसि विश्वव्यचा" इस मंत्र के यह अर्थ किये कि अवतारों के लिये आप समुद्ररूप हैं जल बुदबुदों के सम आप में से ही अवतार प्रकट होते रहते हैं इस आशय के अर्थ किये गए हैं। इस आशय का प्राचीन भाष्य में गन्ध मात्र भी न था, महीधर उक्त मंत्र को ब्रह्मासन की प्रशंसा विषय में लगाता है इस मंत्र में "अज" शब्द भी आया है जिसको अवतार वादी इस प्रकार लगाते हैं "अ-जोसिएकपात्" एक पादरूप हे भगवन्! आप यद्यपि माया सहित हैं, तिमिर भास्कर पृ० १७० यहां वादी को यह भी विवेक नहीं रहा कि "अजोसि एकपात्" यह प्रतीक देकर अर्थ यह करता है कि आपका एक पाद माया सहित है और तीनपाद अज हैं यह उलटा अर्थ कैसे? "पादोस्य विश्वाभूतानि" इस मंत्र का आश्रय लेकर वादी ने यह अभिप्राय निकाला है कि परमेश्वर का एक पाद जो माया सहित है उससे अवतार वाद का तात्पर्य्य निकल आएगा, परन्तु वादी ने यहां "एतावानस्य महिमा" यजु० ३१। ३ का तात्पर्य्य सर्वथा नहीं समझा, इस मंत्र में तीन पाद परमेश्वर के "अज" हैं और एक मायासहित है यह इस मंत्र का अभिप्राय नहीं। यदि वादी उक्त मंत्र का महीधर भाष्य भी पढ़ता तो यह अर्थ करने में अवश्य लज्जित होता, देखो महीधर उक्त मंत्र के यह अर्थ करता है "एता-

वान् सर्वोप्यस्य पुरुषस्य महिमा, स्वकीय सामर्थ्य विशेषो विभूतिः नतु वास्तवं स्वरूपं" सर्वाणि भूतानि काल त्रय वर्त्तीनि "प्राणि जातानि पादश्चतुर्थांशः" इत्यादि भाष्य से महीधर ने स्पष्टकर दिया है कि यहां पाद कल्पना माया के अभिप्राय से नहीं किन्तु जगत् के अल्प देश में होने के अभिप्राय से है। स्वामी शङ्कर रामानुजादिकों ने भी उक्त मंत्र का इसी अभिप्राय से अंशाधिकरण में व्याख्यान किया है फिर क्या जाने प० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने यहां एक पाद ईश्वर के अवतार के लिये कैसे भिन्न रखलिया एवं उक्त मंत्रार्थों में बहुत स्थानों में मिथ्यार्थ किये गए हैं जो केवल महीधर सायणाचार्य्यादिकों के भाष्यों के लिखने से ही सम्यक् स्पष्ट नहीं होते अतएव हम विस्तार पूर्वक उक्त वादियों के मिथ्यार्थों को वक्ष्यमाण मिथ्यार्थ समीक्षण नाम तृतीय समुल्लास में विस्तार पूर्वक लिखते हैं जिसमें वादी लोगों के सिद्धान्त रूप से उक्त मिथ्यार्थों का विरोध दिखलाया जायगा, और शङ्कराचार्य्यादि भाष्यकारों के भाष्यों से भी विरोध दिखलाया जायगा ॥

इत्यार्य्यमन्तव्यप्रकाशे अर्थाभास निदर्शनं नाम द्वितीयः समुल्लासः ॥

अथ मिथ्यार्थसमीक्षणं नाम
तृतीयः समुल्लासः
प्रारभ्यते

इन अर्थाभास करने वाले कलयुगी आचार्य्यों ने अवतारों का क्रम अवलम्बन करके अवतार सिद्धि नहीं की, किन्तु जहां२मिथ्यार्थ करने की सुगमता प्रतीत हुई वहां२ से अर्थाभास करना प्रारम्भ किया है अवतारों के क्रम से चलते तो ब्रह्मा, सनत् कुमारादि क्रम से वामनावतार षोड़श व पञ्चदश संख्या पर आता, पर इन सब ने वामन से ही प्रारम्भ किया है, कारण यह प्रतीत होता है कि यदि क्रम से चलते तो सब अवतारों के अर्थाभास का बीज वेद से सिद्ध करना पड़- यह दुष्कर काम ही नहीं था प्रत्युत असम्भव था अतएव जहां तहां से दश पांच मंत्रों का अर्थाभास करके स्वार्थ सिद्ध किया है ॥

हम इस मिथ्यार्थ समीक्षण में इन के क्रम को अवलम्बन नहीं करते किन्तु रामकृष्णादि मुख्य२ अवतारों से प्रारम्भ करते हैं। कारण यह है कि वामनावतार सिद्धि के मंत्रार्थ में सायणाचार्य्य ने यास्क के अर्थों को मुख्य माना है जिस से ईश्वर के अर्थ निकलते हैं तो फिर इस मंत्र से अवतार कथा क्या ? अस्तु इस की समीक्षा सामान्यतः अवतार सिद्धि के मंत्रो में करेंगे क्योंकि वामनावतार भी अवतार वादियों के मत में सामान्य ही है, न वामनावतार का कोई कहीं मंदिर पाया जाता और न रामकृष्णादिकों के सम इस विचारे अवतार का नाम रटा जाता है " केन गण्यो गणेशः" वाली बात ही है। अतएव हम पहले रामकृष्णादि मुख्य अवतारों की कथा का क्या तत्व है? यह बतलाते हैं ॥

यह तो सायण और महीधराचार्य्य के भाष्य देखने से पाठकों को स्वयं ज्ञात होगया होगा कि आधुनिक सनातन धर्मावलम्बी, ग्रन्थ-

कारों ने जो रामकृष्णादिकों के अवतार सिद्ध करने में पूर्ण शक्ति व्यय की है वह सब सायण और महीधर भाष्य ने निष्फल करदी। और उन के मत में इस उत्तर को भी अवकाश नहीं कि जो बात सायण और महीधर को नहीं सूझी थी सो हम ने निकाली, क्योंकि वहां तो सायणादि भाष्य पुराने होने से सदाचार में माने जाते हैं, फिर उक्त भाष्यों का विरोध करना असदाचारी और असनातनी बनना नहीं तो क्या है ?

हमें क्या भले ही नये अर्थ करें यह भी कलिकाल में एक अपूर्वता है जो सनातन समय से लेकर आज तक किसी भाष्यकारने "भद्रो भद्रया सचमान" इस सामवेद के मन्त्र के और " कृष्णं तएम रुशतः" इस ऋग् मंत्र के रामावतार और कृष्णावतार के अर्थ नहीं किये और अब किये जाते हैं पर इस बात की समीक्षा हम अवश्य करेंगे कि क्या उक्त मन्त्रों के अर्थ रामकृष्णादि अवतार विषयक हो सकते हैं ? ॥

यह तो ऊपर के मंत्रार्थों से अवगत हो गया कि आधुनिक सनातन धर्मावलम्बी प्रायः सब ग्रंथकारों ने उक्त मंत्रों के एक से ही अर्थ किये हैं इन की आधुनिक परिपाटी में सायण महीधर के सनातन अर्थों की कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं की गई। अस्तु इस प्रथम मंत्र पर सायण से विरुद्धार्थ करने का उत्साह केवल दो महापुरुषों को ही हुआ है। उनका नाम मन्त्रार्थ द्रष्टा होने के कारण यहां प्रकट किया जाता है प्रथमाचार्य्य इस अर्थ के स्वामी बालगम हैं दूसरे पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, उक्त स्वामी साहब अर्थ करते हैं कि " स्वापित्रादि ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने से भगिनी के तुल्य जो सीता उसको जार रावण हरता भया " हम यहां नए मंत्रार्थ द्रष्टा से यह पूछते हैं कि यदि आपको

सायणाचार्य्य के अर्थों में ग्लानि थी जिन में जाररूप से भगिनी के हरण का अर्थ नहीं था किन्तु जारयिता शत्रुओं का नाश करने वाला, अग्नि हवन कुण्ड में आकर प्रातःकाल अपनी भगिनी रूप उषा से मिलता है उषा में भगिनी भाव आरोप का भाव यह है कि उषा समय हवन का फल है रूप सादृश्य से उषा और अग्नि दोनों भगिनी कही गई हैं यह अर्थ था। इस अर्थ को देखते तब भी भगिनी भाव कल्पना करके जार होने के दोष से वेदों को दूषित न करते, किन्तु जैसे अपने अर्थों में जार के अर्थ जारवत् के किये हैं भगिनी के अर्थ स्वपितृ आदिकों के रुधिर से उत्पन्न होने से किये हैं ऐसे ही उक्ति युक्ति लगाकर भगिनी में जार बुद्धि दोष को भी दूर हटा देते, पर क्यों इन्हें क्या पड़ी वेद दूषित हों सौ वार हों, यह तो स्वयं त्रिगुणातीत हैं, और उस सिद्धान्त के मानने वाले हैं जिसको अबोधध्वान्त की भूमिका में सूत्र रूप से सूचित किया है, वहां आधुनिक सनातन धर्म मूर्त्तिपूजादिकों की हानि में काल को दोष देते हुए यह लिखते हैं कि यह भी हमारी ही भूल है कि जो हम काल को उपालम्भ देते हैं क्योंकि जब "कालः कलयतामहम्" गीता के इस वाक्य से भगवान् ने कालरूप भी अपने को ही माना है तब तो यह सब परमेश्वर की ही माया का नाट्य कहना हमें उचित ज्ञात होता है॥ यह तो हम कह आए हैं कि आपको वेदार्थ की पवित्रता से क्या? आप तो सब सत्यानृत को परमेश्वर का ही नाट्य समझते हैं, अतएव सत्यार्थ को छोड़कर मनमाने अर्थ कर नाट्य करते हैं, पर जब यह सब परमेश्वर का ही नाट्य है तो फिर आप मूर्तिपूजादि विषयों पर रुष्ट होकर देशोद्धारक और वैदिकधर्मप्रचारक महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी पर गाली प्रदान का नाट्य क्यों करते हैं और यूरुपादि यात्रा करने का विधान करने वाले लोगों को चिड़ियों की चोंचों का दृष्टान्त क्यों देते हैं॥

यदि केवल विकालत से हिन्दुओं के अधिक दल का प्रसन्न रखना लक्ष्य रखकर उक्त नाट्य करते हैं तो यह और बात है क्योंकि जो लोग चिकनी चुपड़ी खाने के अभिप्राय से वेदों के अनर्थ करते हैं उनका क्या उपाय? ॥

अब हम दूसरे महाशय पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के अर्थों की समीक्षा करते हैं इन्होंने भी सीताराम की सम्पूर्ण कहानी इसी मंत्र से निकाली है "भद्र" राम "भद्रा" सीताजी के साथ प्रगट हुए तब "जार" रावण ने ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण भगिनी समान जानकी को हरण किया" क्या कहें स्वार्थ साधन क्या नहीं कराता ? यह भद्र तो "भद्रो भद्रया" के भंवर में आए हुए जार के साथी वत् शब्द को भी ले डूबे, स्वामी बालकराम जी ने जारवत् कह कर कुछ तो गोपन किया था इन्होंने तो सारे श्रीरामचन्द्र के पवित्र इतिहास को कलङ्क लगा दिया और इस बात को भी छिपा दिया कि रावण ने स्व जन्मोद्धार के लिये जानकी जी का हरण किया था जिसकी साक्षी में रामायण प्रमाण है। इस से अधिक वेदज्ञता क्या होसकती है जो अग्नि का जारयिता गुण छिपा कर रावण का जार होना वेद भगवान् से सिद्ध कर दिया, स्मरण रहे कि ये वही लोग हैं जो श्री स्वामी दयानन्दजी पर वेदार्थ दूषित करने का दोष लगाया करते हैं किसी कवि ने सत्य कहा है "आत्मनो विल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति" पं० साधुसिंह और पं० अम्बिकादत्तजी ने तो इस मंत्र को अपने पुस्तकों में लिखा ही नहीं और पं० अम्बिकादत्तजी ने रामावतार की सिद्धि छोड़कर परशुरामावतार सिद्ध किया है यथावसर हम उसकी समीक्षा करेंगे, पर पहले कृष्णावतार विषय

में जो मंत्र दिया गया है उसके अर्थाभास की समीक्षा करते हैं ॥ " कृष्णंतएम" इस मंत्र के अर्थ सब से प्रथम पण्डित साधुसिंह ने सत्यार्थविवेक नामक पुस्तक में किये हैं इस बात को तो पाठक ऊपर के पाठ से सम्यक् समझ चुके होंगे कि इनके आधुनिक अर्थों में सायण नाम मात्र का भी साथ नहीं देता केवल अनुभव मात्र से ही नए अर्थ किये जाते हैं "यदप्रवीता दधतेह गर्भम्" इतने मात्र से ही कृष्ण जन्म निकाला है,वीत के अर्थ गमन के किये हैं अप्रवीत के अर्थ गमन रहित, जिसका भावार्थ बंधी हुई का निकाल कर फिर अपने भाव से देवकी अर्थ कर लिया है "यदप्रवीता दधतेह गर्भम्" वाक्यार्थ यह लाभ हुआ कि कंस की बांधी हुई देवकी ने गर्भ धारण किया, धन्य है ऐसे वेदज्ञ जिन्होंने वेदार्थ करने में इतनी दूर की सोची कि केवल 'अप्रवीता' शब्द आजाने से देवकी अर्थ करलिया, उनके मत में कृष्ण शब्द साक्षात् कृष्णावतार का बोधक क्यों न हो, यहां पर संस्कृतज्ञों के ध्यान देने का स्थान है कि उक्त मंत्र में कृष्ण शब्द विशेषण वाचक है और एमन्—मार्गवाचक शब्द का विशेषण है अर्थ यह लाभ होता है कि रुशतः रोचमानस्य ते तव एम वर्त्म कृष्णंभवति—इस अर्थ को सायण ने स्पष्ट कर दिया है अतएव हम यहां अधिक विस्तार को सार नहीं समझते ॥

इस दूसरी आशङ्का का विचार करते हैं जो छान्दोग्य उपनिषद् के प्रमाण से सिद्ध किया है कि वहां देवकी पुत्र लिखा हुआ है अतएव इस मंत्र में भी कृष्ण, देवकी पुत्र ही सिद्ध होता है छान्दोग्य प्र० पा० ३ खं० १६ में यह पाठ है कि:—

"तद्धैतदघोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव । सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥६ ॥

अर्थ—अङ्गिरा गोत्र वाले घोर नामा ऋषि ने देवकी के पुत्र कृष्ण को पूर्वोक्त यज्ञ का उपदेश किया, और वह कृष्ण उस उपदेश से सन्तुष्ट हुआ, फिर घोर ऋषि ने कहा कि इस पुरुष यज्ञ को करने वाला इन मंत्रों को अन्त में पढ़े कि हे परमात्मन् तू अक्षत है कभी क्षय नहीं होता अच्युत है कभी गिरता नहीं प्राणसंशित है जीवमात्र का प्राणप्रद होने से सब से श्रेष्ठ है ॥

अब हम पूछते हैं ? इस में कृष्णावतार कहां वर्णन किया गया है और कौन से पुराण में अवतार कृष्ण को घोर ऋषि का शिष्य वर्णन किया गया है ? इस उपनिषदर्थ में स्वामी शङ्कराचार्य्यजी भी इस कृष्ण को घोर ऋषि का शिष्य मानते हैं शङ्कर भाष्य यह है—

"घोरोनामत आङ्गिरसो गोत्रतः कृष्णाय देवकी पुत्राय शिष्याय"

अर्थ—जो नाम से घोर था गोत्र से आङ्गिरस था उस ऋषि ने अपने कृष्णनामा शिष्य को उपदेश किया उक्त शंकर भाष्य छोड़कर आप सनातन होने का अभिमान नहीं कर सकते अब बतलाइये क्या स्वामी शङ्कराचार्य्य भी भूलगए जो इसमें कृष्ण के अवतार होने का अर्थ न किया ? ॥

यदि यह कहो कि देवकी माता का नाम आने से ही कृष्णावतार का वर्णन उपनिषद् में पाया गया तो क्या पहले किसी कृष्ण की माता का नाम देवकी न था इसका क्या प्रमाण ? क्या अब ऐसे कै एक कृष्ण नहीं जिनकी माताओं का नाम देवकी हो, यदि

यह कहो कि कृष्णावतार से प्रथम कृष्ण नाम न था तो हम आप को दिखलाते हैं ऋ० मं० १ अ० १५ सू० १०१ के प्रथम मन्त्र में ही कृष्ण शब्द आया है जिसका सायण यह अर्थ करता है कि कृष्ण नाम वाला एक असुर था इन्द्र ने उसको मारा और उसकी स्त्री गर्भवती को मारा, ताकि उसके कोई पुत्र न हो, तो क्या फिर वहां भी कृष्ण से कृष्णावतार का अभिप्राय है फिर उसी मण्डल अं० १७ सू० ११६ कृष्णपुत्र का शब्द आया है तो क्या यहां भी कृष्णपुत्र से कृष्णावतार के पुत्र का वर्णन है ? कहां तक कहें उक्त मंत्र में तो स्पष्ट नाम आए हैं और जिसका प्रमाण आप देते हैं वहां तो कृष्ण नाम भी आपके मत में गुणवाचक है जिसके अर्थ आप खेंच के यह करते हैं कि ,, आपका जो सत्यानन्द चिन्मात्ररूप है और रुद्र रूप से तीन पुरो को नाश करने वाला स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्ण भा रूप को हम प्राप्त होवें,, क्यों महाशय इतने गूढ़ दार्शनिकार्थ तो आप निकालते हैं पर इस बात परभी ध्यान नहीं देते कि कृष्ण पद के साथ यहां भा का अन्वय नहीं, कृष्ण काले और भा दीप्ति का विरोध है। यह माना कि कृष्ण के अर्थ आपने रुद्ररूप के किये हैं जिससे भा दीप्ति के साथ विरोध नहीं आता पर फिर जब आप उस कृष्णरूप को तुरीय स्वरूप बनाते हैं तो फिर उसमें कृष्णत्व क्या? यह अर्थ केवल मन्द बुद्धियों को धोखे में डालने का आडम्बर मात्र है,, स्मरण रहे उक्त अर्थाभास के कर्त्ता वे महापुरुष हैं जिन्हों ने सत्यार्थ विवेक पुस्तक की भूमिका में यह प्रतिज्ञा की है कि हम असत्यार्थ हटाकर सत्यार्थ करेंगे और महामण्डल की शरण लेकर महाडम्बर रूप धोखे को हटाने के लिये कटिबद्ध हुए हैं जब ऐसे पुरुषों की यह गति है कि धोखा उठानेकी प्रतिज्ञा करके स्वयं धोखा करते हैं, और निष्पक्षी बनने की प्रतिज्ञा

करके स्वयं पत्नी बनते हैं तो फिर भारत सन्तान के उद्धार की क्या आशा हो सकती है? । इससे भी अतिशोक का स्थान यह है कि इनके पश्चात् निखिल शास्त्र निष्णात स्वामी बालकराम और वेद ब्राह्मण स्मृत्यादि सर्व शास्त्र पारग पं० ज्वालाप्रसादमिश्र, भारतरत्नाद्युपाध्युपहित पं० अम्बिकादत्त व्यास उक्त तीनों सनातन धर्म के सत्यार्थियों ने पं० साधुसिंह कृत अर्थाभास की प्रति उतारकर स्वस्वपुस्तकों में लिखी है, इन सत्यार्थियों को यह समझ नहीं आई कि हम यह क्या करते हैं! जो "यदप्रवीता दधतेह गर्भम्" से कृष्ण जन्म की सम्पूर्ण कहानी निकालते हैं।सत्य यह है कि किसकी शक्ति है जो प्राचीन आर्य्य सिद्धान्त रूपी दिवाकर को छिपाकर अजन्मा जगद्योनि परमात्मा का जन्म निरूपण कर सके? किसकी शक्ति है जो उस अपाप विद्ध का पापकर्मरूप गर्भादि योनियों में जन्म लेना वेद से सिद्ध करसके? किसकी शक्ति है जो उस जगत् पिता को देवकी वा कौशल्यादि माताओंका पुत्र बनासके? किसकी शक्ति है उस अकाय का भौतिक वा मायिक काय वर्णन कर सके इसबात को हम तर्क निरोक्षण प्रकरण में प्रतिपादन करेंगे, प्रकृत यह है कि उक्त मंत्र के अर्थ को हमारे उक्त सनातन भाइयों ने ऐसा नवीन बनाया है कि जिससे उनके सत्यार्थी होने का नियम टूटगया॥

और जो चार मंत्र" सद्योजातस्येत्यादि " कृष्णावतार की सिद्धि में दियेगए हैं उन में कृष्ण का नाम तक नहीं पाया जाता और इन आधुनिकों ने इन मंत्रों में गोवर्धन का उठाना, व्रजमें गौएं चराना आदि सब कृष्णलीला उक्त मंत्रों से निकाली है सायणाचार्यने उक्त मंत्रों को अग्न्यादि विषय में लापन कियाहै अतएव हम उक्त मंत्रों के अर्थाभासों के विशेष समीक्षण करने की आवश्यक्ता नहीं समझते,अब

परशुरामावतार विषयक सप्तम मंत्रार्थ का समीक्षण करते हैं, इसमंत्र के अर्थ पं० अम्बिकादत्त व्यास परशुरामावतार के करते हैं, यहां यह कथन भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि एकही समय में दो अवतार कैसे ? और फिर वे दोनों एकही अर्थ के लिये वा परस्पर विरुद्धार्थ के लिये ? जैसा कि परशुराम और श्रीरामचंद्रजी के विषय म इतिहास साक्षी है— अस्तु इस विषय को हम शङ्का समाधान में निरूपण करेंगे अब पूर्वप्राप्त मिथ्यार्थ की समीक्षा की जाती है उक्त पं० साहब केवल सहस्र शब्द की सहायता से परशुरामावतार निकालते हैं इनका अर्थ यह है "**इन्द्रः धृत जामदग्न्य रूपो नारायणः सहस्र वाहे मशकार्थो धूम इति न्यायेन तन्नाशायेत्यर्थः ।**"

भाषार्थः — (इन्द्रः) धारण किया जमदग्नि के पुत्र का रूप जिस ने ऐसा इन्द्र परमात्मा सहस्र वाहु के लिये, जैसे मच्छर के मारने के लिये धूम किया जाता है इस प्रकार यहां चतुर्थी का प्रयोग है, सहस्र वाहु दैत्य के मारने के लिये परमेश्वरने परशुराम का अवतार धारण किया, पहली बात तो यह है कि सायणाचार्य्य ने अर्थ यह किये हैं कि इन्द्र ने सहस्रवाहु वाले शत्रु को मारा, इससे इस कपोल कल्पना का गंध मात्र भी नहीं पाया जाता कि इन्द्र ने परशुरामावतार धारण करके सहस्रवाहु को मारा । अरे यदि सहस्रवाहु शब्द आजाने से ही अवतार सिद्धि होती है तो "सहस्र शीर्षा पुरुषः" इस मंत्र के अर्थ सहस्र वाहु दैत्य के ही क्यों नहीं कर लिये जाते हम तो कई वार कहचुके हैं कि यदि एक२ नाम के पीछे लगकर वेदार्थ भ्रष्ट किये जांय तो सत्यासत्य की कोई आस्था नहीं रहती, इसी प्रकार एक२ नाम के पीछे अंधाधुंध चलकर पौराणिक ग्रन्थकारों ने धोखाखाया है, कहीं वराह नाम आगया तो उससे वराहावतार सिद्ध होगया । बस फिर क्या ?

उक्त अज्ञान के अनुकरण की शरण लेकर ऐसे भाष्य कारों ने वेद के अर्थ का अनर्थ कर दिया ॥

और यदि यह कहा जाव कि वेद भगवान् सूत्रों के समान सूचना मात्र देता है इसलिये इसीप्रकार सब अर्थ वेदों से निकलते है, तौ क्या सहस्रवाहु के साथ परशुराम आजाता तो वेद भगवान् को कौन बहु वक्तव्य था यह तो ईश्वर विषयहै जिसका वेद भगवान् ने ऐसा विवरण किया है जिससे कोई पुरुष भी ईश्वर स्वरूप के अज्ञान के कारण पुरुषार्थ से भ्रष्ट होकर अनर्थग्राही नहो इसलिये अकाय अव्रण अस्नाविर आदि अनन्त शब्दों से ईश्वर को अकाय सिद्ध किया गया है इसी प्रकार यदि अवतार वेद भगवान् को अभिप्रेत होता तो अनन्त शब्दों से बोधित किया जाता इसमें संकोच क्या था ? ॥

अब हम आठवें मंत्र में वर्णित बुद्धावतार विषयक मिथ्यार्थ का समीक्षण करते हैं यह अब वह अवतार है जिसके वेद में स्थान दान का यत्न केवल स्वामी बालकरामजी ने ही किया है अन्य किसी भारत धर्म के संस्कार कर्त्ता ने उक्त अवतार को वेद भगवान् में स्थान दान नहीं दिया, देते भी कैसे ? जब हाथ उठाकर इतिहास कह रहा है कि बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म का स्पष्ट खंडन किया, तब स्वामी शङ्कर ने बौद्ध धर्म के आक्षेपों से बचाकर वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया, यह कठिनाई है जिससे भयभीत होकर इस अन्तिम अवतार की चर्चा कम की गई है यहां हमारे ग्रन्थाध्यायियों के ध्यान में यह शङ्का होगी कि क्या कारण है कि बुद्धावतार जो अवतारगणना में बीसवां स्थान लाभ करता है, बहुत पीछे का अवतार है इसको परशुराम के पीछे इस पुस्तक में चौथा स्थान कैसे दिया जाता है ? उत्तर यह है कि इस बात को सूचना मात्र से हम पहले भी सूचित कर आये हैं कि हमारे वादियों

ने अवतार सिद्धि को किसी क्रम से सिद्ध नहीं किया. किसी ने मत्स्यावतार से उठाकर वामन, नृसिंह, कृष्ण, बुद्ध, राम, कपिल, वराह उक्त अवतारांष्टक तक ही अपनी सिद्धि समाप्त की, किसीने नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण, इन चार तक ही चारों वेदों का प्रमाण दिया, किसी ने नृसिंह, वामन, कृष्ण, इन तीनों को ही वेद त्रयी म बताया, किसी ने वामन, कपिल, नृसिंह, वराह, कृष्ण, इस पञ्चक का ही वेद पाठ से प्रमाण दिया, कहां तक कहें ऐसी क्रम अव्यवस्था की है कि कहीं नृसिंह पहले है कृष्ण जी विचारे सबसे पीछे जा पड़े, कहीं मत्स्यावतार सबसे प्रथम है तो वराह सबसे पीछे वर्णन किये गये हैं किसी ने बुद्ध को कृष्ण जी के पीछे स्थान दान दिया है और किसी ने विचारे बुद्ध का नाम भी नहीं लिया है ॥

इस अव्यवस्था के कारण हमने मुख्य अवतारों के क्रम से कथा आरम्भ की है और हमारे विचार में बुद्ध श्रीरामचन्द्र, कृष्णजी से पीछे वर्णन का दर्जा किसी प्रकार भी कम नहीं रखता, हम तो कृष्ण जी के पीछे बुद्ध ही का वर्णन मुख्य समझते हैं केवल श्रीरामचन्द्र जी के साथ सङ्गति रखने से तीसरी जगह परशुराम का वर्णन किया गया है हमारे विचार में परशुराम जी अवतार कहलाने के इतने योग्य न थे जैसे कि बुद्ध । बुद्ध ने धार्मिक सृष्टि में ऐसा हल चल डाला कि किसी से छिपा नहीं, यह प्रसिद्धि यद्यपि हमारे वैदिक धर्म में कोई प्रतिष्ठा नहीं रखती तथापि बुद्ध के महाजन होने में किसी प्रकार भी यह प्रसिद्धि असिद्ध नहीं हो सकती । पर यहां हमारे विचार को कौन पूछता है ? जिस पौराणिक प्रथा में अवतारों की प्रसिद्धि का वर्णन है उस में बुद्ध ने कोई बड़ा काम नहीं किया जहां मत्स्यावतार भगवान् का इतना बड़ा काम है कि प्रलयकाल में इस

पृथ्वी रूपी नौका को अपने शृङ्ग में बांध के रक्षा किया, उस समय भुजङ्ग रूप रज्जु से इस भूगोल का मत्स्य के शृंग से संयोग किया गया था, "**भुजङ्ग रज्वामत्स्यस्य शृंगे नावमयोजयत् । उपर्य्युपस्थितास्तस्याः प्रणिपत्य जनार्दनम्**" ॥ मत्स्य-पुराण अ० २ श्लो० १९ ॥

परमेश्वर को नमस्कार करके उस नौका पर मनु जी उपस्थित हो गए जो भुजङ्ग रूप रज्जु से मत्स्यावतार भगवान् के सिर के शृङ्ग के साथ बांधी हुई थी, एवं वराह भगवान् जब अङ्गुष्ट मात्र प्रमाण ही ब्रह्माजी की नाक से निकले फिर तत्क्षण ही हाथी के परिमाण, फिर पर्वताकार होगए, जिनका काम दैत्य से पृथ्वी छुड़ाकर दान्तों में रख लाना पुराणों में श्रीमद् भागवत स्कं० ३। १३ में वर्णित है ॥

तीसरे कूर्म भगवान् ने समुद्र मथन के लिये मन्थनीरूप मथन के साधन मन्दराचल के नीचे आधार होकर लक्ष योजन वाली पीठ से सहारा दिया प्रमाण यह है कि "दधार पृष्ठेन सलक्ष योजनः प्रस्तरिणिर्द्वीप इवाऽपरो महान् ॥ श्री० भा० । ८ । ७ । ६" जहां इतने २ बड़े २ काम अवतारों के वर्णित हैं वहां बुद्ध विचारे की क्या कथा ? ॥

एक बुद्ध ही क्या, पौराणिक परिभाषा के देखने से ज्ञात होता है कि अवतारों की उत्तम मध्यम मन्दता की परीक्षा में कोई पुण्यात्मा ही उत्तम कोटि में आता है, वरन बहुत से तो विचारे अपनी अवतार पदवी से ही च्युत हो जाते हैं जैसे कि "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—श्री० भा० १ । ३ । २८ अर्थ यह है—की सब उस परब्रह्मरूप पुरुष की अंशरूप कला हैं अर्थात् उस पुरुष का समुद्र विन्दु के सम अंशमात्र हैं केवल श्रीकृष्ण जी सारा पूरा

बना तना परब्रह्म हैं, इस लेख से श्रीरामचन्द्रादि सनातन अवतार भी उत्तम कोटि में नहीं आये मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह और यज्ञ, नारद, ऋषभदेव, धत्वन्तरि आदि सेकण्ड क्लास थर्ड क्लासियों की तो कथा ही क्या है ? उक्त स्कंध में अवतार संख्या निम्न लिखित है ।

सनत्कुमार १ वराह २ नारद ३ नर ४ नारायण ५ कपिल ६ दत्तात्रेय ७ यज्ञ ८ ऋषभदेव ९ पृथु १० मत्स्य ११ कूर्म १२ धन्वन्तरि १३ मोहिनीरूप १४ नृसिंह १५ वामन १६ परशुराम १७ व्यास १८ राम १९ रामबलभद्र २० कृष्ण २१ बुद्ध २२ हंस २३ हयग्रीव २४ फिर स्कन्ध ११ । ४ में "आदा वभूवच्छत धृति रजसास्यसर्गे विष्णुस्थितौ क्रतुपतिर्द्विज धर्म सेतुः" । रुद्रोप्ययाय-तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु श्लो० ५—अर्थ— वह आदि पुरुष रचना के लिये रजो गुण से ब्रह्मा हुआ फिर वही पुरुष स्थिति के लिये विष्णु हुआ, तीसरा तमोगुण से, वही पुरुष संसार संहार के लिये रुद्ररूप हुआ एवं इस स्कंध में आकर उक्त तीन अवतार ये और बढ़ गए, यहां की संख्या यों है—ब्रह्मा १ विष्णु २ रुद्र ३ नर ४ नारायण ५ हंस ६ दत्तात्रेय ७ सनत्कुमार ८ ऋषभदेव ९ व्यास १० हयग्रीव ११ मत्स्य १२ वराह १३ कूर्म्म १४ नृसिंह १५ वामन १६ परशुराम १७ राम १८ कृष्ण १९ बुद्ध २० बालखिल्य २१ शुक्र २२ हरि २३— उक्त संख्या में बालखिल्य १ शुक्र २ हरि ३ तीन ये और बढ़ गए, अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कौन से अवतार पदवी से ख़ारिज किये जांय जिनकी जगह उक्त ६ और बढ़े हैं, **हमें इस मन्सूख़ी बहाली से क्या** ? इसका निर्णय तो स्वयं श्रीमद् भागवत्कार ने कर दिया है जो इस संख्या में निम्नलिखित महा पुरुषों के नाम काट दिये

जिनके नाम यह हैं- नारद१ कपिल२ पृथु ३ यज्ञ ४ व्यास ५ धन्वन्तरि ६ मोहिनी रूप, यहां वादी यह उत्तर देगा कि उक्त अवतारों के यहां नाम न लेने से यह परिणाम नहीं निकलता कि वे अवतार पदवी से गिरा दिये गए किन्तु परिणाम यह निकलेगा कि इस स्कन्ध मे ६ और बढ़ा दिये गए क्योंकि अवतारों की संख्या असंख्यात है जैसा कि इस श्लोक में कहा है "अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्व निधेर्द्विजाः" स्कं० १ । ३ । २८

अर्थ--परमेश्वर के असंख्यात अवतार हैं। इसका उत्तर यह है कि आप असंख्यात के सहारे नहीं चल सकते, आपको यह असंख्यता सङ्कुचित करनी पड़ेगी, यदि आप से कोई पूछे कि मसीह महम्मद और स्वामी दयानन्द भी अवतार थे तो आप इस का यही उत्तर देंगे कि नहीं, हमारी समझ में तो आपका यही उत्तर हो सकता है कि जिन के अवतार होने की हमारी अवतार संख्या में गणना नहीं वे अवतार नहीं। तो बस परिणाम यही निकला कि जिन २ की आपकी अवतार संख्या में गणना नहीं वे अवतार नहीं अन्यथा बुरी भली शक्ति सम्पन्न सभी अवतार कहलावेंगे और कोई व्यवस्था न रहेगी, अस्तु प्रकरण यह है कि आप के श्री० भा० स्कं० १ अध्याय ४ की संख्या में नारद, कपिल, पृथु, यज्ञ, व्यास, धन्वन्तरि मोहिनीरूप उक्त महात्माओं के नाम २४ अवतार संख्या में नहीं, और न आने का कारण यही है कि स्कंध में विष्णु ब्रह्मा, महेशादि छ और बढ़गए जो प्रथम स्कन्ध में नथे । हमें इस नारदादि महात्मा सप्तक में सभी का शोक अवतार पदवी से रह जाने का नहीं किन्तु उक्त सातों में से व्यास और कपिल के चौबीस अवतारों में न आने का हमें महाशोक है कारण यह है कि व्यास जी के चौबीस

अवतारों में न शुमार होने से हमारे पौराणिक भाइयों की इतनी हानि है कि जो कथनीय है क्योंकि अब ईश्वरवचन के दावे से वे पुराणों का प्रमाण न दे सकेंगे, किन्तु केवल व्यास बचन से प्रमाणित करेंगे। कपिलजी का शोक इसलिये अधिक है कि स्वामी बालराम जी ने अपने अबोधबन्धु में कपिलावतार की सिद्धि के लिये ऋग्वेद, श्वेताश्वतरोपनिषद् जहां तहां से अति कष्ट से प्रमाण अन्वेषण किये और यहां श्रीमद् भागवतकार ने कपिल को चौबीस अवतारों से बाहर करदिया। योंतो चाहो नारदजी भी बड़े आयु वृद्धावतार थे जिन की आयु करीब २ सब अवतारों से बढ़ी हुई है, विष्णु के समय नारद थे, नृसिंह के समय नारद थे, रामचन्द्रजी के समय नारद थे, कृष्णजी के समय नारद थे, इतनी लम्बी आयु का कोई भी अवतार नहीं पाया गया तथापि इन के चौबीस अवतारों से खारिज होने का शोक हम इसलिये नहीं करते कि इनका कोई अवतारों की भांति बड़ा काम नहीं पाया जाता। शेष रहे पृथु, यज्ञ, धन्वन्तरि और मोहिनीरूप, राजा वेन के पुत्र पृथु को अवतारों में गणना करने की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि पौराणिक कथाओं में पृथुका यही काम बड़ा बतलाया गया है कि उसने पृथ्वी को सम बना दिया पहले बहुत ऊंची नीची थी हमारी श्रद्धा इस बात पर कदापि नहीं जमती कि पृथु ने ही इस पृथ्वी को बराबर बनाया है प्रथम ऐसी न थी, क्योंकि यदि अवतार होकर पृथु इस काम को उठाता तो अधूरा कदापि न छोड़ता, अब भी सैकड़ों कोसों में पृथ्वी ऊंची नीची है जहां पृथु का काम पूरा नहीं हुआ अथवा उन प्रदेशों में पृथु परमेश्वर का पांव नहीं पड़ा यज्ञ, धन्वन्तरि, मोहिनीरूप, का कोई बड़ा काम पुराणों में वर्णित नहीं केवल मोहिनीरूप का काम यह बतलाया जाता है कि उस अवतार ने

समुद्र मथन के अनन्तर मोहिनीरूप इस अभिप्राय से धारण किया था कि दैत्यों को धोखे से अमृत न दें सो यह समुद्र मथन की कहानी ही सर्वथा निर्मूल है फिर मोहिनीरूप का मूल क्या ? यह छल का काम भी परमेश्वर का काम नहीं। और शङ्करमोहन नाम द्वादश अध्याय में जो इस मोहिनी अवतार ने शङ्करमोहन लीला की है क्या वह किसी को रुचकर हो सक्ती है कथा यों है एक समय शङ्कर ने विष्णुजी से कहा कि जो रूप आपने देवताओं के अमृत बांटने के लिये और असुरोंसे छल करने के लिये धारण किया था उस को मैं देखना चाहता हूं "**सोऽहं तद्द्रष्टुमिच्छामि, यत्ते योषिद्वपुर्धृतम्, श्री० भा० ८। १२। १२**" **येन संमोहिता दैत्याः पायिता-श्चामृतं सुराः**" **श्री० भा० ८। १२। १३**

बस फिर क्या ? इस मोहिनीरूप अवतार दर्शन के पश्चात् जो गति महादेव देवन के देव साक्षात् ईश्वर की हुई है वह किसी से छिपी नहीं, उस गति का यहां विस्तार करना, काम विषयक दुराचार के भावों का प्रचार करना है अतएव हम किसी स्थान से दो एक प्रतीकें दिखला देते हैं:—"**तयापहृत विज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः भवान्याअपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ। श्री० भा० ८। १२। १५**' अर्थ—

उस मोहिनी अवतार से जिस का ज्ञान नष्ट होगया है और उक्त कारण से कामदेव से व्याकुल हुआ भवानी पार्वती के देखते ही गतलज्ज हुआ महादेव उस के पीछे चलागया, आगे की कथा का परिणाम यह है कि फिर महादेव के भ्रष्ट ब्रह्मचर्य्य होने से यह सब संसार में सोना चांदी की खानें बनी, अर्थात् उन का रेतस् जहां गिरा उस से सोना और चांदी हुए प्रमाण यह है " यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः। तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते! ॥ श्री० भा० ८। १२। ३३ समीक्षा—यहां हम ईश्वर साकार वादियों

से पूछते हैं कि यह क्या? यहां तो परशुराम और रामचन्द्रजी की तरह एक समय दो अवतार होने का ही दोष नहीं प्रत्युत एक अवतार पर दूसरे अवतार के मोहित होने का दोष है वह भी यहांतक अज्ञान का कि पहले यह ज्ञात था कि विष्णु मोहिनीरूप मुझे दिखलायेंगे यहां तक ही नहीं फिर उस मदनारि का मोहन जिसने कामज-शक्तियें ही नहीं प्रत्युत कामदेव को भी भस्म करादिया था और क्या कहें इस कथा में एकस्त्रीव्रत यहां तक भंग किया गया है कि भगवती भवानी के देखते ही शिवने सब उक्त लीला की।

यहां पुराणों को पुष्टि करने वाला नयादल जो आजकल नई २ पोशाकें पहना कर पुराणों को पेश करता है वह बहुत प्रकार से इस प्रकरण की पुष्टि करेगा। कोई कहेगा कि शङ्कर के अर्थ यहां जीवात्मा के हैं और मोहिनी से आशय माया का है। माया आत्मा को मोह लेती है इस भाव को यहां दर्शाया गया है। कोई कहेगा शिव रेतस् के अर्थ यहां मैटर के हैं और मैटर से सब सोना चांदी की कानें बनी हैं। इस प्रकार नाना अर्थ निकलेंगे पर इसका उत्तर कोई नहीं कि भगवच्छंकर ने जिसको इसपुराण में ईश्वर अवतार करके वर्णन किया है ऐसे श्रेष्ठ ने स्वस्त्री के होने पर भी परस्त्री पर क्यों हस्तक्षेप किया? क्योंकि भगवदवतार को ऐसा काम नहीं शोभता। इस के निषेध में कृष्णजी ने गीता में यह कहा है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥" गीता—श्रेष्ठ लोगों को इसलिये सदाचार करना अत्यावश्यक है कि जो वे काम करते हैं इतर लोग उसी का अनुकरण करते हैं इस प्रकार यह शङ्कर मन मोहिनी कथा गीता के आशय से विरुद्ध है, परमात्मा के अकाय वि-

शेषण होने से वेद विरुद्ध है, किसी स्थान शंकर चौवीस अवतारों में गिना है कहीं बाहर है इस प्रकार यह भाव परस्पर विरुद्ध है एवं परीक्षण करने से परस्पर विरुद्ध और ईश्वर स्वभाव विरुद्ध मोहिन्यादि अवतारों का अवतरण प्रतीत होता है। और मत्स्यादि अवतारों के असम्भव कामों को मानने से तो शास्त्रों का मानही घट जाता है ऐसा कौन मन्दमति है जो यह निश्चय करे कि वास्तव में प्रलयकाल में इस भूगोल को शृङ्ग में बांधकर सम्पूर्ण प्रलयकाल मत्स्य भगवान् विचरते रहे और सब वस्तुओंका बीज उस बृहत् नौका में रखलियाथा यह गाथा किसी प्रकार भी नूह के तूफान से कम नहीं है। फिर ऐसी गप्पों को वेद से सिद्ध करना मिथ्यार्थ नहीं तो क्या है? यदि मच्छ कच्छादि रूप भगवान् के अवतारों में कुछ भी सार होता तो हमारे वादी लोग इनको संहिता में स्थान क्यों न देते, हमारे वादियों के ध्यान में मत्स्य अवतार का इतना बड़ा मान है कि दश अवतारों में भी मत्स्य भगवान् का नाम सबसे पहले सृष्टि रक्षा करने में भी मत्स्य भगवान् का काम सबसे महान् मत्स्य भगवान् का परिमाण भी समुद्र परिमाण जिसके आगे विष्णु आदिकों की सत्ता भी असत्ता सी भान होती है फिर ऐसे महामत्स्य के प्रमाण और ध्यान में न्यूनता क्यों! तत्व यह है कि पूर्व वर्णित पौराणिकभाव सर्वथा असम्भव है अतएव वेदों से भी सर्वथा विरुद्ध है, कहां यह वेदों का उच्चभाव कि ईश्वर अभोक्ता है" **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ऋ०मं०१ सू०१६४ मं०२ ॥**

जीव ही केवल कर्म फल का भोक्ता है ईश्वर अभोक्ता रूप हुआ साक्षी है और कहां यह नीच भाव कि परमेश्वर मोहिनीरूप पर मोहित होकर केवल मनोरथ मात्र से भोक्ता बना ॥

वैदिक प्रमाण से प्रलयकाल में सर्वसृष्टि सदसच्छब्दों से अकथनीय होके ब्रह्म में रहती है।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ ऋ० मं० १० अ० ११ सू० १२९ मं०

इसी भाव को भगवान् व्यास ने ब्र० सू० १।१।९

में प्रकाश किया है कि सब भूतों का प्रलयकाल में ब्रह्म में (अप्पय) लय होता है और कहां पौराणिक व्यास के प्रमाण से भगवान् मत्स्यावतार के शृङ्ग के साथ प्रलयकाल में सृष्टि को बांधे२ फिरने का भाव यदि कोई यह आशङ्का करे कि उक्त वैदिक प्रमाणों में तो महा प्रलय का भाव है और यहां तो अवान्तर प्रलय में मत्स्य भगवान् के शृङ्ग से पृथ्वी बांध कर रक्षा कीगई है इसका उत्तर यह है कि जब महा प्रलय में प्रपञ्च का ब्रह्म में अप्पय है तो क्या आप की अवान्तर प्रलय में ब्रह्म का आश्रय नहीं हो सकता, जब सब साकार वस्तुओं का आधार अब निराकार ब्रह्म ही वादी को अभिमत है तो क्या प्रलयकाल का जल बहुत भारी हो जाता है! जो निराकार ब्रह्म से नहीं उठाया जाता, इस प्रकार वैदिक मन्तव्यों के साथ तुलना करने से मत्स्य भगवान् के शृङ्ग के साथ सृष्टि बांधने आदि बातें सर्वथा गप्प मालूम होती हैं, यही कारण है कि हमारे वादियों में से कोई इतने बड़े अवतार को वेद में नाम मात्र से भी नहीं दिखला सका, वादी लोग विष्णु सहस्र नाम के सम यदि वेद का पाठ करें अथवा गुरु ग्रन्थ की तरह अखण्ड पाठ रक्खें तो शायद रामकृष्ण के सदृश अर्थाभास मात्र से ही मत्स्य भगवान् को वेद सागर में ढूंढ मारें पर इतना परिश्रम कौन करता है? यहां तो दो चार अवतारों के नाम मात्र ढूंढने से ही सब साहस समाप्त हो जाता है। शेष विचारे कूर्मादि

बड़े २ अवतार जिन के पीठ के काठिन्य भाव के भरोसे सब देवगण ने अमृत पान किया, ऐसे प्रसिद्ध अवतार भी इत्यादि करके ही सब सिद्ध किये जाते हैं विशेष साहस तो हम स्वामी बालकरामजी का पाते हैं जिन्होंने शतपथ के सहारे भगवान् मत्स्य को वैदिक बनाने की शरण दी और वेद को गप्पाकर बनाने में किञ्चिन्मात्र भी न्यूनता नहीं की। आप लिखते हैं कि " तब मनुजी ने मत्स्य की आज्ञानुसार उस मत्स्य के मायामय शृङ्ग के साथ उस नौका का रस्सा बांध दिया, और वह मत्स्य भी नौका को खींचते २ उत्तर गिरि हिमालय पर्वत की तरफ़ ले चला एवं चलते २ हिमालय के समीप आ पहुंचा, तब मत्स्य बोला कि हे मनो! अब मैंने तुझ को पार लंघा दिया, अब तू मेरे शृङ्ग से रस्सा को खोलकर इस हिमालय शिखरस्थ वृक्ष में बांध दे जब तक जल है तब तक इस पर्वत में रहो अबोधध्वान्त पृष्ठ २५

समीक्षा—यहां तो आप पौराणिक गप्प को भी अतिक्रमण कर गए। जो मायामय मत्स्य शृङ्ग कहकर मत्स्यावतार के मर्म्म को भी मिटा गए, और आज कल के पुराण मण्डन कर्ता थिओसोफ़िष्ट लोगों को भी मार्ग बतलागए पर जो रस्सा मायामय शृंग में डाला और जिस हिमालय की चोटी वाले वृक्ष में बांधा, इस बुझारत बूझने का भी उपाय बतलाजाते। क्यों स्वामी साहब आप ऐसी गप्पों के भरोसे ही महर्षि दयानन्द को निन्दित करते हैं कि वह ऐसी गप्पों के आकर ग्रन्थों को नहीं मानते, सत्य है शतशः कहने को उद्यत हैं महर्षि स्वामी दयानन्द ऐसे गप्पाकर ग्रन्थों की क्या परवाह करते हैं शतपथ हो चाहे सहस्रपथ हो जब उनका यह मन्तव्य है—

जोकि वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाए ग्रंथ हैं उनको परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और

जो इन में वद विरुद्ध वचन हैं उन को अप्रमाण मानता हूं मन्तव्य२ पर आप बतलाइये आप के मत में तो यहां सब रास्ते संकुचित हैं, और परस्पर स्पष्ट विरोध है। पुराणों में नौका को सांप का रस्सा था आपने यहां रस्सा ही कथन किया है सांप बिचारा उड़ा दिया है, पुराणों में केवल मत्स्य के शृंग में ही रस्सा डाला था आपने शृंग से निकालकर इस डूबत हुए भूगोल के जहाज़ के रस्से को हिमालय के शिखरस्थ वृक्ष से जा बांधा, पुराणों में मत्स्य को भगवान् वासुदेव का अवतार माना गया है मनु के उग्र तप करने पर जब ब्रह्मा जी प्रसन्न हुए तब मनु के इस वर मांगने पर कि मैं प्रलयकाल में रक्षा कर सकूं, ब्रह्मा के वरदान से मत्स्य भगवान् भेजे गए, और आपके इस शतपथ के लेख में अवतार का नाम मात्र से ही अभाव नहीं प्रत्युत उद्धृत शतपथ के आशय से मत्स्य मत्स्य ही पाया जाता है और प्रार्थना करता है कि **"यावद् वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावद् नाष्ट्री भवति उत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति"** अर्थ—जब तक हम छोटे २ होते हैं तब पर्य्यन्त बहुत सी अनिष्ट जनक नाश कारिणी विपत्ति बनी रहती हैं जैसे कि कहीं मत्स्य ही मत्स्य को निगल जाता है। अबोधबान्त पृ० २३ फिर यहां अवतार का भाव कैसे समझा जय जब कि यह क्षुद्र जन्तु अपने जीने के लिये प्रार्थना करता है तो वह सर्व शक्तिमान भगवान् कैसे हो सकता है?

पुराणों की कथा कहती है कि सर्व प्रलय होने पर मत्स्य भगवान् के शृंग में नौका बांधकर मनु ने सर्व रक्षा की केवल सूर्य्य सोम वेदादि आवश्यक वस्तु मनु के साथ रहीं, फिर आप हिमालय की चोटी वाले वृक्ष से कहां रस्सा जा बांधते हैं, पुराणों में यह मत्स्या-

वतार अपनेअवतारत्व का परिचय देकर वहां ही अन्तर्धान होगया, आप की कथा में तो मनु जी को हिमालय के पास छोड़ चुप चाप ही चला गया इत्यादि अनन्त भेद पौराणिक कथा और आप की इस कथा में हैं फिर आपकी यह प्रतिज्ञा क्या ? "आनन्द तो यह है कि जिस प्रकार मत्स्यावतार श्रीमद्भागवत प्रभृति में निरूपण किया गया है उसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी निरूपण किया है" अबोधध्वान्त पृ० २२ ॥

समीक्षा—अब वह समय नहीं जब कि "कृष्णाय देवकी पुत्राय" इतना कह कर कृष्ण की सब कथा कथा जाती थी। अब वह समय नहीं जिस समय वेद में वराह शब्द आजाने से ही वराह पुराण बनाया जाता था, याद रखे कि अब विद्या का समयहै समझ सोच का समय है आगे पीछे की छान बीन का समय है फिर आप समझ बूझ कर मत्स्यादि अवतारों की गप्पों को क्यों सनातन ग्रंथों के गले मढ़ते हैं,एवं समीक्षा से अन्ध गोलांगूलावलम्बन न्याय * आप पर ही घटता है जो मत्स्यादि अवतारों की पूंछ अबतक भी नहीं छोड़ते महर्षि दयानन्द जी तो निम्नलिखित मन्तव्य रूपी सत्य का पालन कराके हिन्दूमात्र को मिथ्या भवसागर से पार कर गए, वह मन्तव्य यह है कि पुराण जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण इतिहास कल्प गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं गवतादि को नहीं, यही नहीं फिर यह कहते हैं कि:—

---

*अंधे को किसी ठगने एक बैल का पूंछ पकड़ाकर कहा कि इस को मत छोड़ना एक दम तुमारे को घर में पहुंचा देगा यही हाल दयानन्दियों का है। अबोध ध्वान्त पृ० २१

चारों वेदों विद्याधर्म युक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मंत्रभाग को स्वतः प्रमाण मानता हूं २" यह वह मन्तव्य है जो प्राचीन आर्य्यों का मन्तव्य है यह वह मन्तव्य है जो गप्पाकर ग्रन्थों से बचने वालों के लिये एक मात्र मन्तव्य है यह वह मन्तव्य है जो स्वामी शङ्कराचार्य्य का भी मन्तव्य है,

"वेदस्यस्वार्थे निरपेक्षं प्रामाण्यं पुरुषवचसान्तु मूलान्तरापेक्षम" स्मृति पा० सू० १ शङ्करभाष्यम्"

केवल वेद ही स्वतः प्रमाण है और जो मनुष्य निर्मित ग्रन्थ हैं वे वेदानुकूल होने से ही प्रमाण माने जा सकते हैं अब कहिये क्या ? स्वामी शङ्कर उस वेद की शरण नहीं लेते जिसको स्वामी दयानन्द स्वतः प्रमाण मानते हैं न्याय तो यह है कि पहले स्वगृह टटोलो फिर दूसरे से बोलो' जब कपिल मत खण्डन करने के लिये स्वामी शङ्कर वेद की शरण लेते हैं तो फिर स्वामी दयानन्द मिथ्या बातों के खण्डन के लिये जब एक वेद मात्र को आधार करते हैं तो फिर क्यों घबराते हो, ? यह वैदिक पथ आर्य्य मात्रका मार्ग है इस पन्थके यात्री ही मत्स्यादि अवतार विषयक मिथ्या मगर मच्छों से बचकर इस भव सागर से पार हो सकते हैं । अवतारों के न्यूनाधिक भाव और परस्पर विरुद्धभाव रूप प्रसंग सङ्गतिसे उपयुक्त मत्स्यावतारादि कथा निरूपण के अनन्तर हम पूर्व प्रकृत बुद्धावतार विषयक मिथ्यार्थ का बोधन करते हैं ॥

इस पुस्तक की संख्या के मं०७ यजुः १६ । २१ इस मंत्र से स्वामी बालराम ने बुद्धावतार सिद्ध किया है कि हे परमेश्वर ! आप तस्कर चोरों के पति हो इससे तस्कर नाम बौद्धों का है इससे बुद्धावतार सिद्ध हुआ,तस्करों के आप पति हैं इसलिये आपको नमस्कार है ॥

समीक्षा—बात तो आपने ठीक उठाई है उधर श्री० भा० स्कं० १ में इक्कीसवें बुद्धावतार का बीज यह वर्णन किया गया है कि असुरों के मोहन के लिये बुद्धावतार होगा, पर यह क्या? जो आपने "परिवञ्चते" के अर्थ यह किये हैं कि असुरों को वञ्चन कर तिन्हों से वेदका परित्याग कराने हारे हो, फिर आप गीता के प्रमाण से यह लिखते हैं कि "**तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥**"जो पञ्च यज्ञ का अनुष्ठान न करके भोजन करते हैं सो तस्कर हो जाते हैं, आपके उक्त लेख से पञ्च यज्ञों का परित्याग करा असुर बनाने वाला भी ईश्वर ही हुआ, आप तो गीता के परम भक्त हैं फिर इसका उत्तर क्या? कि "**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारताऽभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं**" जब २ धर्म की ग्लानि होती है अधर्म की जड़ उखाड़ने के लिये मैं होता हूं यहां तो आपके निबन्ध से सर्वथा उलटा होगया, वेद छुड़ाकर असुर बनाने का काम आपके बुद्ध भगवान् ने ही किया, यदि कहो कि असुरों की भलाई वेद छुड़ाने में ही थी तो फिर परमेश्वर सर्व कल्याणकारी न हुआ, आपको सर्व कल्याण से क्या! आपतो मोहिनीरूप धर दैत्यों को छलना भी इसी पद से निकालते हो, रामचन्द्रावतार भी इसीमन्त्र से निकालते हो, उस पक्ष में तस्कर पति के अर्थ रावणादि दैत्यों के पति होने के करते हो, यदि ऐसे ही विपक्षभाव के अर्थ बुद्धावतार के तस्कर पति होने में करते तो विचारे बौद्ध चोर न बनते और नही बुद्धावतार को वञ्चकत्व का दोष लगता, क्योंकि विचारे बुद्धावतार ने आपके और अवतारों के समान न तो मार पीट की, और नही परशुरामावतार के सम इक्कीसवार क्षत्रियकुल नाश करके तीन तालाब

क्षत्रिय रुधिर से भरकर पिता का तर्पण किया, और न विचारे बुद्ध के शिष्य बौद्धों ने किसी को दुखाया, फिर उक्त मन्त्र बुद्धावतार का बोधक कैसे ? यदि परशुरामावतार में उक्त मन्त्र घटाते तो ठीक भी फबता। पर आपतो—संशयात्मा विनश्यति इस गीता वाक्य से **"नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः"** इस अवस्था में हैं, अन्यथा ऐसा क्या कि कभी उसी "परिवञ्चते" के अर्थ बुद्धावतार के, फिर उसी के मोहिनी अवतार के केवल धनुष् का नाम आ जाने से रामावतार के, **"डूबते को तृण का सहारा"** इस न्याय से कुकाशावलम्बन क्यों करते हो ! कुछ निश्चयात्मा होके कहो श्रीरामचन्द्रजी को तस्कर पति बनाकर कलंकित क्यों करते हो? यदि पौराणिक सनातन बनते हो तो अपने महीधर आचार्य्य का ही सहारा लो जो इस मंत्र को रुद्र पक्ष में लगाता है जिस रुद्र मूर्त्ति में चोर डाकू आदि सब का पति होना उपपादन हो सके ॥

सत्यार्थ इस मंत्र का वही है जो महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने स्वभाष्य के भावार्थ में प्रकाशित किया है कि वञ्चन करने वाले और सर्वप्रकार से छल कपट से वञ्चन करने वालों को राजा स्वनियमानुकूल निग्रह करे ॥

आश्चर्य्य तो यह है कि इस मंत्र में अवतार बोधक एकभी पद नहीं फिरभी अवतार वादी इसे स्वपक्ष में लगाते हैं।

मं० ८ नृसिंहावतार इस मंत्र से सिद्ध किया जाता है ॥ मंत्रार्थ यह है कि स्ववीर्य्य पराक्रम से विष्णु व्यापक परमेश्वर स्तुति को प्राप्त होता है वह(मृगः) सिंह रूप है पर भयानक नहीं, फिर वह कुचर पृथ्वी में विचरता है यह विरोध है कि वह सिंह होके कैसे भयानक नहीं और पृथ्वी में रहकर गिरिस्थ कैसे है! इस विरोध का परिहार मंत्र के

उत्तरार्द्ध में है कि वह विष्णु जिसके 'त्रिषु विक्रमणेषु' अर्थात् उत्पत्ति स्थिति लय करने वाले तीन प्रकार के बल में "भुवनानि विश्वा" सब संसार के लोक लोकान्तर भ्रमण करते हैं एवं विष विष्णु निराकार होने से क्रूर भयानक सिंह नहीं किन्तु " न भीमः " आकृति से भयानक नहीं। और पृथ्वीतल पर रहकर भी वह व्यापक सर्वगत होने से गिरि शिखर में है हमारी समझ में इस मन्त्र का यही भाव आता है और श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने भी इस मंत्र का व्यापक ईश्वर के भाव से ही व्याख्यान किया है ॥

महीधर के अर्थ भी प्रायः इसी लायन को अवलम्बन करते हैं जो सब को शुद्ध करने वाला हो उस के अर्थ मृग के हैं, शुध्यर्थक मृजूष् धातु से महीधरने यह शब्द सिद्ध किया है और गिरिष्ठ के अर्थ अन्तर्यामी रूप से देह में स्थिर परमात्मा के किये हैं जिनको हम अर्थाभास निदर्शन में दर्शा चुके हैं, केवल इस बात की समीक्षा यहां करनी है कि जो महीधर कुचर के अर्थ यह करता है कि जो मत्स्यादि रूप से विचरे उसको कुचर कहते हैं यह अंश हम से विरुद्ध है। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं कि महीधर स्वामी शङ्करादिकों से भी बहुत पीछे हुआ है बहुत जगह स्वामी शङ्कराचार्य्य के अर्थों की प्रति करता है और पौराणिक समय का प्रवाह उस समय प्रबल प्रचण्ड वेग पर था मत्स्यादि अवतारों की सैकड़ों कथाएं भी लिखी जा चुकी थीं फिर "मत्स्यादि रूपेण चरतीति कुचरः" इस मनमाने अर्थ करने में क्या आश्चर्य्य है इस बात को हम बहुत इसलिये नहीं बढ़ाते कि इस मंत्र के अर्थ में सायण का भाष्य भी साथ देदिया है जिससे यह प्रतीत हो जाता है कि सायण के समय में महीधर कृतार्थाभास मत्स्यावतार का मनोरथ मात्र भी विचार उत्पन्न नहीं हुआ था अस्तु अब उपयुक्त

समीक्षण यह है कि जो आज कल के सनातनधर्म्मध्वजाधारियों ने इस मंत्र के अर्थ किये हैं वे कहां तक ठीक हैं? इन के अर्थों में विप्रतिपत्ति यहां तक है कि कोई न के अर्थ ही नहीं करता कोई न के इव अर्थ करता है, कोई गिरिष्ठ के अर्थ शिव करता है और कोई गिरिष्ठ के अर्थ पर्वतस्थसिंह के सम भयानक के करता है, इत्यादि अनन्त भेद हैं परमहीधर और सायण को छोड़कर नृसिंहावतार की ओर सभी झुके हुए हैं सब एक मत होकर यही अर्थ करते हैं कि यह मंत्र नृसिंहावतार का विधायक है और विशेष यहां यह है कि "त्रिषु विक्रमणेषु" के अर्थ उस विशेषण वाले विष्णु के करते हैं जिसने तीन पाद से सम्पूर्ण भूगोलादि गोलों को मापा था, यहां अम्बिकादत्तव्यास भारतरत्न सब से विशेष हैं वे इस पद के अर्थ अपनी अवतार मीमांसा में सब से विलक्षण करते हैं कि "त्रिषु विक्रमणेषु त्रिषु विग्रहेषु" "**विष्णु, ब्रह्म, रुद्रात्मकेषु**" अर्थ— जिस विष्णु के तीनों, विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र, रूप शरीरों में सब ब्रह्माण्ड निवास करते हैं वह विष्णु नृसिंहादि रूप अवतार धारण करने से स्तुति किया गया ॥

हम सब से विशेष यहां इसी अवतार मीमांसक की मिथ्यार्थ मीमांसा करते हैं जो यह अर्थ किया गया है कि जिस विष्णु के ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन तीन विग्रहों में सर्व ब्रह्माण्ड निवास करते हैं, यह अर्थ बुद्धि विरुद्ध होने से ही मिथ्या नहीं अपितु वेदोपनिषद् सूत्र सब से विरुद्ध है यह कब सम्भव हो सकता है? कि ब्रह्मा विष्णु रुद्र जो स्वयं शरीरधारी वर्णन किये गए हैं उन के शरीर में सब भुवन समा सकें, यजु० अ० ४० मं० ४ यह कहता है कि:—

उक्त निराकार परमात्मा में ही जल, वायु आदि सब की स्थिति है, इसी अर्थ को उपनिषद्कार इस प्रकार

ग्रन्थन करते हैं कि " **अशरीरमशरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति**" जो शरीर धारियों में अशरीर अर्थात् शरीरधारी नहीं है उस को मनन करने से पुरुष शोक मोह से निवृत्त हो सकता है, इसी अर्थ को ब्रह्म सूत्रकार व्यास ने तृतीय पाद " द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् " इस सूत्र में निरूपण किया है कि निराकार परमात्मा ही द्यौ, भू आदि सब भुवनों का अधिकरण है फिर न जाने इस आधुनिक व्यास ने क्यों व्यापक परमेश्वर को छोड़कर तीन शरीरधारियों को सब भुवनों का आधार बनाया, उक्त अम्बिकादत्त व्यास का यह भी सिद्धान्त है कि परमेश्वर विरुद्ध धर्माश्रय है अर्थात् परमेश्वर में परस्पर विरुद्ध गुण रह सकते हैं, इस को आप यों लिखते हैं कि विरुद्ध धर्माश्रयत्व भी ब्रह्म का स्वभाव है ऐसा शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त है, और अलौकिकता के कारण विरुद्ध धर्माश्रयत्व हो ही सकता है यह सभी भक्तिकाण्ड वालों का साग्रह सिद्धान्त है ॥ सो ही श्रुति सम्मत भी है जैसे—श्रुति "**अणोरणीयान् महतो महीयान्** " "नमो ह्रस्वाय वामनाय च बृहते च नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च"। " तदेजति तन्नैजतीत्यादि"॥ अवतार मीमांसा पृ० ॥२६॥

समीक्षा—ईश्वर को विरुद्ध धर्माश्रयत्व आज तक किसी वैदिकाचार्य्य ने नहीं माना, यह नई सूझ आप को वा आप के शुद्धद्वैतियों को ही सूझी है जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मा का कूटस्थ नित्य अपरिणामित्व इत्यादि असंख्यात गुणों को छोड़, अनित्य अशुद्ध अपवित्र इत्यादि अनन्त परमात्मस्वभावविरुद्ध इन गुणों का भी आश्रय परमेश्वर मानना । भला शुद्धाद्वैती वल्लभ सम्प्रदायियों को तो यह लालच था कि यदि विरुद्ध गुणों का अगार

परमेश्वर न माना गया तो हमारी कृष्ण लीला सारी ही समाप्त हो जायगी, फिर एक एक गोपी के लिये कृष्ण का अनेक होकर एक एक के साथ रासलीला करना कैसे सिद्ध होगा ? इत्यादि अनन्त लीलाओं का लालच था, पर आप को क्या? समय २ पर शङ्कर की शरण लेते हैं श्रीशङ्कराचार्य्य तो ईश्वर को एकरस मानते हैं, और विरुद्ध गुणों का गन्ध मात्र भी नहीं मानते जैसे देखो "न हि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं सम्भवति। कूटस्थं नित्यञ्च ब्रह्म सर्वक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम । नच यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनम्, एवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मै चित् फलायाभिप्रेतप्रमाणाभावात् कूटस्थब्रह्मात्मविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम् । सएष नेति नेत्यात्मा इत्युपक्रम्य, अभयं वै जनक प्राप्तोसि, इत्येवं जातीयकम् । स्मृति पा० सू० १४ शङ्करभाष्यम् अर्थ— कूटस्थ एक रस ब्रह्म में स्थिति और गति की तरह जो विरुद्ध धर्म हैं वे नहीं रह सकते कूटस्थ नित्य सर्व क्रियाओं से रहित हम ब्रह्म का वर्णन कर चुके हैं और जिस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन है, इस प्रकार जगत् रूप परिणाम का दर्शन मोक्ष का साधन नहीं । स्वतन्त्र किसी फल के लिये जगत् रूप परिणाम का दर्शन अभिप्रेत नहीं किया जाता क्योंकि इस में कोई प्रमाण नहीं कि इस जगत् रूप परिणाम को ब्रह्म समझा जाय, क्योंकि कूटस्थ एक रस ब्रह्म के ज्ञान से ही शास्त्र फल निरूपण करता है., वह शास्त्र यह है जो यह कहता है कि यह साकार आत्मा परमेश्वर नहीं । २ । यह प्रकरण चलाकर आगे यह कहा कि हे जनक ! तू अब अभय को प्राप्त हो गया है इस प्रकार का शास्त्र है श्रीस्वामी शङ्कराचार्य्य का भी ईश्वर विषय में उक्त मन्तव्य है कि परमेश्वर विरुद्ध धर्मों का आश्रय कदापि नहीं हो सकता, इस जगत्रूप परिणाम को

यदि ब्रह्म समझा जाय तो यह शास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है यहां स्वामी शङ्कर का केवल हम से इतना ही भेद है कि उन के मत में ब्रह्म का विवर्त्त मानकर यह जगत् ब्रह्मरूप कहा जा सकता है अस्तु यह दार्शनिक भेद है, यहां हम यह कहने से नहीं रुक सकते कि स्वामी शङ्कर में ब्रह्म के निर्विशेष एक रस मानने का जो वैदिक पवित्र भाव है उस को हम छिपा नहीं सकते, इस विषय में स्वामी रामानुज भी कल्याण गुणों की राशि ही ब्रह्म को मानते हैं विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं। यह लेख परिणामात् अ० १ पा० ४ सू० २७ के श्री भाष्य में स्पष्ट रीति से लिखा है कि ब्रह्म निखिल निन्दित गुणों से विलक्षण कल्याण गुणाकर स्वरूप है इस विषय में यदि उपनिषदर्थ का संग्रह करें तो एक महाभाष्य बनता है अतएव पुस्तक विस्तार भय से अधिक बिस्तार सार नहीं समझते, वेदाश्रय करने वाले सब आचार्यों का यही मुख्य मन्तव्य है कि ईश्वर विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं, फिर नजान इन शुद्धाद्वैतियों ने यह अशुद्धता कहां से ली, जो एक रस परमेश्वर को विरुद्ध धर्माश्रय माना, कई एक यह कहते हैं कि शुद्धाद्वैत वाले वल्लभ सम्प्रदायियों ने शङ्कर के मायावाद से डरकर यह मन्तव्य माना है कि एक परमेश्वर विना माया से ही नानारूप हो जाता है और फिर शुद्ध का शुद्ध रहता है, मानलीला, विहारलीला चीरलीलादि अनेक चरित्र करके भी फिर शुद्ध का शुद्धरहता है, यह शुद्धाऽद्वैत है। हमारे विचार में तो यह मायावाद से भी महा अशुद्धाऽद्वैत है जिस में परमेश्वर को नाना कलङ्क लगाए जाते हैं इस को हम तर्काभास निरीक्षण प्रकरण में स्फुट करेंगे॥

अब प्रकृत यह है कि पण्डित अम्बिकादत्त ने यह क्या किया? जो ऐसे मार्ग का आश्रयण करके मिथ्यार्थ किये "**एकोहं बहुस्यां**

प्रजायेय " के अर्थ यह किये हैं कि मैं एक से अनेक बनूं सो द्वारिका के रनवास में एक से अनेक होना दिखलाया है, और एक से अनेक होकर गोपियों के साथ रासलीला की है । अवतार मीमांसा पृ० २८ ॥

और क्या कहें बस धन्य है इस सनातन धर्म के महत्व को जिस की कृपा से " **तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय** " इस छान्दोग्य वाक्य के आज यह भी अर्थ सुनने में आए, अद्वैतवाद में इस के यह अर्थ हैं कि एक आद्वितीय ब्रह्म ने मायावश से यह इच्छा की कि मैं सर्वरूप हो जाऊं और वही सर्वरूप हो गया विशिष्टाद्वैतवाद में इस के यह अर्थ हैं कि सूक्ष्मरूप से उस ब्रह्म में जगत् का उपादान कारण प्रकृति भी थी और जीव भी था यह तीनों मिलकर विशिष्टाद्वैत कहलाता है उस जीव और प्रकृतिरूप ब्रह्म की शक्ति से यह सब संसार हुआ । द्वैतवादियों के मन्तव्य में ईक्षणकर्ता यद्यपि यहां एक कथन किया गया है आगे जाके यह भी कहा है कि "**अनेन जीवेनात्मना प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**" अर्थ-'इस जीव रूप आत्मा से प्रवेश होकर नाम रूप वाले संसार को रचूं और वह जीव अनादि काल से ब्रह्म से भिन्न है ब्रह्म का आत्मा केवल ब्रह्माधीन होने से कहा गया है, पूर्व वर्णित भिन्न २ वेदान्त के भाष्यकारों की शाखाओं में आज तक इस छान्दोग्य वाक्य के यही अर्थ प्रसिद्ध थे जो द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत वादियों ने किये हैं । पर यह अपूर्व अर्थ कि परमेश्वर एक से अनेक रूप धारकर गोपियों के साथ हुआ, यह पण्डित अम्बिकादत्तजी का ही बुद्धि वैशद्य है जो उपनिषदर्थ में भी गोपियों का प्रवेश करादिया, यद्यपि इस समय में तत्वमसि के अर्थ

हज़रत मसीतत्व हैं।यह भी कर लिये जाते हैं और "ईशावास्यमिदं सर्वम्"के अर्थ यह भी होतेहैं कि यह सम्पूर्ण विश्व प्रभुईसासे"आवास्यम्" आच्छादित है, एवं सहस्रों अनर्थ किये जाते हैं, तथापि इन अनर्थों को देखकर हमें ऐसा शोक नहीं होता जैसा कि भारतसन्तान के योग्य पण्डितों के ऐसे लेखोंसे जैसा कि पं० अम्बिकादत्त ने इस उपनिषद् वाक्य के यह अर्थ किये हैं कि भगवान् ने रणवास में गोपियों के लिये यह इच्छा की है कि "**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय**" ॥

यदि हमारे सनातन धर्म की यही दशा रही तो न जाने और क्या२ अनर्थ होंगे। और ईश्वर को विरुद्ध धर्मों का आश्रय सिद्ध करने में जो पं० अम्बिकादत्त ने श्रुतियों की शरण ली है वहां सर्वथा श्रुतियों को कलङ्कित किया गया है " **तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके** " इस यजु०अ०४०मं०५ श्रुति के यह अर्थ किये हैं कि वह परमेश्वर चलता भी है और नहीं भी चलता, दूर भी है और समीप भी है इस प्रकार परस्पर विरुद्ध गुणों का आश्रय है, इस अर्थ में पं० अम्बिकादत्त सनातन मर्य्यादा को भेदन करके उच्छृङ्खल होकर सर्वथा निर्मर्य्याद हो गये हैं। उक्त मंत्र का भाव स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस प्रकार प्रकट किया है कि वह आत्मा वास्तव में नहीं चलता, अज्ञानियों को चलता प्रतीत होता है एवं अज्ञानियों की दृष्टि में सदा दूर है और ज्ञानियों के समीप है, सर्वगत होने से वह सब के अन्तर है और बहिर्व्यापक होने से सब के बाहर है। इसी आशय से इस मंत्र का महीधर ने व्याख्यान किया है "**अचलमेव मूढदृष्ट्या चलतीत्यर्थः**" वह अचल ही मूर्खों की दृष्टि में चलता है एवं अविद्वानों की दृष्टि में दूर है, विद्वानों की दृष्टि में समीप है, शङ्कर महीधर और वेदान्त सम्प्रदाय के सब भाष्यकार यही अर्थ समझे हैं फिर अम्बिका-

दत्त व्यास ने यह अर्थ कहां से कर लिया कि विरुद्ध गुणों का आश्रय होने से ब्रह्म चलता भी है और नहीं भी, दूर भी है और पास भी, बाहर भी है और भीतर भी इस प्रकार अनन्त श्रुतियों का अनर्थ किया है ॥ **"अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"** इस कठ वचन का अर्थ शङ्करादिभाष्यों में यही प्रसिद्ध है कि सर्वान्तर होने से अणु से भी अणीयान् सूक्ष्म कहा गया है, कर्म्म निमित्त बढ़ने घटने से रहित है और ब्रह्मा से लेकर तृण पर्य्यन्त के भीतर व्यापक है इस अर्थ को त्याग कर विरुद्ध यह अर्थ किया है कि परमेश्वर बड़ा छोटा इत्यादि विरुद्ध गुणों वाला है ऐसे मिथ्यार्थ करके उक्त वचनों को अपने पक्ष में लगाया है और फिर वहां यह भी कहा है कि यह भक्तिकाण्ड वालों का साग्रह सिद्धान्त है। सत्य है, आग्रह हठ का नाम है अर्थात् हठ के साथ यह सिद्धान्त है, ऐसे मनमाने वेदशास्त्र और युक्तिविरुद्धार्थ में हठ ही तो काम देता है और क्या उपाय है। सं०मं० ६ अवतारवादियों ने इस मंत्र से कपिलावतार सिद्ध किया है, सायण ने इस में यह लिखा है कि दश अङ्गिरसों में कपिल ऋषि समान सब से मुख्य है, सायण के भाष्य में कपिल ऋषिपदवी में था, आज कल इन सनातन धर्मधुरेन्द्र पं० अम्बिकादत्त आदिकों की लेखनी के प्रभाव से कपिल अवतार बन गया, पर यहां पं० अम्बिकादत्त व्यास को तो यह भी स्मरण न रहा जो पृ० ४१ में बड़े उत्साह से लिखते हैं कि श्री रामानुजाचार्य्य श्री वल्लभाचार्य्य श्री माध्वाचार्य्य श्री शङ्कराचार्य्य प्रभृति सभी सत्पुरुषों के शिरोमणियों ने अवतार माना है। और कपिल के अवतार मानने में आपके दो श्रीमान् किनारा करगये, रामानुजाचार्य्य ने तो **"ऋषिं प्रसूतं कपिलम्"** यह श्वेताश्वतर का प्रतीक देकर विचारे कपिल

का ऋषित्व भी समर्थन किया पर स्वामी शङ्कर तो साफ़ ही खण्डन कर गये जैसा कि हम पूर्व लिख आये हैं फिर क्यों नहीं यहां शङ्कर और रामानुज का मार्ग लेते? ऐसे स्थलों में हमारे इन सनातन भाइयों की ओर से यही उत्तर होता है कि सनातन धर्म की सैकड़ों शाखाएं हैं, ऐसे स्थान में वल्लभ की वल्लभता से वा माध्व के पांव पकड़के पार हो जावेंगे, शङ्कर रामानुज से क्या? हम यहां यह अवश्य कहेंगे कि जब इस सनातन धर्म की यही मर्य्यादा है बहुत से श्रीमानों की शोभा दिखलाकर केवल आडम्बर मात्र से इस धर्म को सर्व सम्मत समझते हैं और यों अपने मार्ग के लिये किसी एक आचार्य्य की ही शरण ली जाती है जैसे कि पं० अम्बिकादत्त ने शङ्कराचार्य्य, रामानुजाचार्य्य, माध्वाचार्य्य, महीधराचार्य्य इत्यादि अनेक आचार्य्यों की चाल छोड़कर "तदेजति तन्नैजति" इत्यादि मंत्रों के अर्थ सब से विरुद्ध माने हैं कि ईश्वर में परस्पर विरोधी गुण रहते हैं यहां वल्लभ सम्प्रदाय के सहारे ही स्वकल्याण का मार्ग सोचा है तो फिर जो पुरुष एक ईश्वर के सहारे वैदिक सम्प्रदाय से अपना कल्याण समझता है उस पर क्यों यह तान तोड़ा जाता है कि यदि वह ईश्वर का अवतार नहीं मानता और ईश्वर को परस्पर विरुद्ध पवित्रता और अपवित्र मानलीलादि अनाचार का आगार नहीं मानता तो वह कल्याण का अधिकारी नहीं। अस्तु, सार यह है कि दार्शनिक खण्डन मण्डन के समय में शङ्करादि आचार्यों ने भागवत के कपिलावतार को अवतार नहीं माना, एवं सायणाचार्य्य ने स्वभाष्य में कपिल को ऋषि माना, हमारी समझ में "**दशानामेकं कपिलं समानम्**" के अर्थ यह हैं कि दश कर्मकाण्डियों के तुल्य एक ज्ञानी है यहां कपिल के अर्थ ज्ञानी के हैं किसी विशेष व्यक्ति से

आशय नहीं * अन्यथा यह कब सम्भव था कि राजा सगर के पुत्रों को शाप देने वाला कपिल वैदिक समय में होता, इतिहास की समालोचना से यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार नामों से सायणादि भाष्यकारों ने बहुत भूल की है सो यहां यह प्रकरण नहीं, प्रत्युत यह है कि आधुनिक धर्मावलम्बियों के प्रभाव से पौराणिक समय का कपिल, और सगर पुत्रों को शाप दाता भागवत का अवतार कपिल, " **दाक्षायणीमेकं कपिलं समानं** " इस मंत्र में कल्पना किया गया। क्या जाने आगे इस कल्पित धर्म में क्या २ कल्पना न किया जायगा! ॥ देखो अबोध ध्वान्त पृ० १० इस में वराहावतार कल्पना किया गया है, आज तक तो यही सुनने में आता था कि वराहावतार की कथा पौराणिक है, पर अब तो इस का बीज भी वेद में मिलगया आश्चर्य्य नहीं जो ऐसी ही वैदिक छानबीन होती गई तो किसी दिन वराह पुराण के प्रथमाध्याय की कहानी सम्पूर्ण ही वैदिक हो जाय, जिस में यह लिखा है कि ब्रह्मा जी के नाक से श्वेतवर्ण वराह भगवान् निकलते ही पर्वत के तुल्य हो गये, फिर झट जल में मग्न होकर पृथ्वी को दांतों पर उठा लाए फिर उस समय जो हाथ जोड़ पृथ्वी ने स्तुति की है कि हे भगवन्! आप सदैव से हमारी ऐसे ही रक्षा किया करते हैं फिर जो अवतार विषय में पृथ्वी ने प्रश्न किये तो महाराज वराह भगवान् ऐसे हंसे कि पृथ्वी ने सब लोक लोकान्तर उन के मुख में देखे, बस ऐसी उन्नति होनेपर सनातन धर्म कृतार्थ हो जायगा फिर जो कोई कृष्ण जी के मुख में त्रिलोकी दिखाई जाने का प्रश्न करे तो झट वैदिक वराह भगवान्

* नोट—क्योंकि कपिल के अन्वयार्थ भी ज्ञानी के हैं जिस धातु से कवि शब्द सिद्ध होता है उसी से कपिल शब्द बना है, केवल प्रत्यय का भेद है॥

का दृष्टान्त देदिया जायगा, यदि कोई वराह के निन्दित योनि होने का प्रश्न करेगा तो वाराह पुराण द्वितीय अध्याय की फ़िलासफ़ी जो भगवदवतार वराह भगवान् के श्री मुख से वर्णित हुई है वह वर्णन करदी जायगी केवल इतनी ही कठिनाई इस विषय में पड़ेगी जो पं० अम्बिकादत्तव्यास ने अवतार मीमांसा पृ० १८ में कहा है कि कीचड़ में घुस के पृथ्वी निकालने के लिये शूकरावतार ही प्रकृत्यनुकूल है। वहां किरीट कुण्डलादि से शोभित रूप नहीं चाहिये, फिर क्यों यहां सांख्य फ़िलासफ़ी निरूपण के लिये वराहअवतार ही शोभित था, यह उलटापन क्यों ? यदि यह कहो कि यह तो केवल अलङ्कार है वास्तव में वराह कोई देहधारी अवतार न था जैसे कि आजकल पुराणों को नया जन्म देने वाले थियोसोफ़ीकल सोसाइटी के लोग कहते हैं, तब वेद से वराह शब्द निकालकर वराह पुराण रचना सर्वथा निष्फल हुआ, सिद्धान्त निराकार अजन्मा परमात्मा ही रहा। अस्तु हमें थियास फ़िस्टोंसे क्या ? हमारे वादी तो वेदों से वराह कथा निकालकर ईश्वर को शूकरवपुधारी सिद्ध करते हैं हमें तो उन के मिथ्यार्थ की समीक्षा करनी है, अतएव उक्त मंत्र में वराहावतार विषयक मिथ्यार्थ का समीक्षण किया जाता है, पं० अम्बिकादत्त इस के अर्थ "**वराहः शूकरः धृततद्रूपोभगवानिति यावत्**" अर्थ—(वराहः) धारण किया है शूकररूप जिस ने ऐसा भगवान्, यह करते हैं। यह बात तो सायण के अर्थ से स्पष्ट होगई कि एकतो वराह के अर्थ शूकर केनहीं, "वरञ्च तदहश्चेति वराहः" इसप्रकार सोम के हैं दूसरे अर्थ यह हैं कि जिस प्रकार वराह शब्द करता आता है इस प्रकार सोम शब्द करता आता है, यहां वराह शब्द

उपमान वाचक है दोनों प्रकार के अर्थों में वराह अवतार नहीं मानागया, यद्यपि सोम शब्द को स्वभाष्य में सायण ने नहीं खोला तथापि वक्तृत्व विशेषण विशिष्ट सोम गुण सम्पन्न पुरुष मात्र का नाम है कि इस प्रकार के गुणों वाला पुरुष स्वोचित योग्यता को प्राप्त होता है, यहां मिथ्यार्थ समीक्षकों का यह काम है कि वे स्वदृष्टि से देखें कि इस मंत्र में वराहावतार के अर्थ करना कैसा अनर्थ कियागया है, केवल वराह पद आया है जिसमें वादी लोग ऐसे लम्पट होकर लिपटे हैं कि मानो सर्वस्व मिलगया, कुबेर का कोष मिलगया, ब्रह्म विद्या का पार मिलगया, सब अर्थों का सार मिल गया, जो वराह भगवान् अवतार वेद में मिलगया। पर हम यही कहेंगे कि ऐसे २ मिथ्यार्थ करके लोगों को भूल में डाल, भारी पाप की पोट बांध इस भवसागर में डूबना है॥

उक्त मिथ्यार्थियों में से कै एक को तो ऐसी लगन लगी है कि येन केन प्रकार से अपना पक्ष पुष्ट कर लेना चाहिये, सत्यासत्य की क्या बात है? कौन देखता है? एक वार तो अज्ञानी जन समुदाय पीछे लग ही जायगा, जगत् में प्रसिद्धि हो जायगी, लोगों में पण्डित कहला जांयगे, धर्म की मर्य्यादा बना जायेंगे, एवं ध्यान करके ऐसे लेख भी लिख बैठते हैं जो न केवल उनकी आयुभर प्रत्युत यावच्चन्द्रदिवाकर हैं तबतक मिथ्यार्थ कलङ्क का टीका उन के माथे रहेगा, जिन्हों ने वेद भगवान् के आशय को छिपाकर इस प्रकार स्वार्थ सिद्ध करना चाहा है जैसा कि पं० ज्वालाप्रसाद ने "**प्रजापतिश्चरतिगर्भे**" यजु० अ० ३१ मं० २९ और इस पुस्तक के अनुसार संख्या ११ मन्त्र में किया है, आपने इस मन्त्र के अजायमानः पद को उड़ाकर जायमानः के अर्थ किये हैं वा यों कहें कि जायमानः पद के साथ जो अकार निषेधबोधक था उस अकार को अपनी साकार भक्ति के

भंवर में बहते हुए सर्वथा चट कर गए, न यह भय किया कि महीधराचार्य्य ने इसके अर्थ अनुत्पद्यमानः के किये हैं और न यह सोचा कि यहां तो अन्तर अव्यय है जिसका रकार अकाराधार में विराजमान है इस विचारे को क्यों अविनाशी अव्यय पद से विनाशी अन्तर शब्द बनाते हैं, पर सत्य है जब इन्हें परमेश्वर को अविनाशी से विनाशी बनाने में डर नहीं तो इस शब्द मात्र से क्यों डरेंगे! पर इतना तो सोच लेना था कि गीता में श्रीकृष्णजी यह कहते हैं कि "अक्षराणामकारोऽस्मि" अक्षरों में अकार हूं। फिर इस भगवत् स्वरूप प्रकार को क्यों उडाते हैं! हम यों क्यों कहें! सब कुछ ही सोचा होगा पर "अजायमानः" कहने से परमेश्वर अजन्मा सिद्ध होता था और यह बड़ा असह्य कष्ट था। यद्यपि पुराणों में जहां ईश्वर का महित्व वर्णन किया गया है वहां ईश्वर के अजन्मा गुण को गुप्त नहीं रक्खा, वह कौनसा पुराण है जिसमें ईश्वर अजन्मा नहीं वर्णन किया गया, वह कौन सी स्मृति हैं जिस में अजन्मा का स्मरण नहीं, वे कौन सूत्र हैं जिनमें अजन्मा सृष्टिकर्त्ता की सूचना नहीं, तथापि पं०ज्वालाप्रसाद मिश्र ने ऐसा कठिन व्रत धारण किया है कि इस जन्म में स्वमन्तव्य के अभिप्राय से अजन्मा जगदीश का नाम मात्र भी नहीं लेना, सत्य है इस सनातनधर्म के लिये यही मार्ग कल्याणकृत् है। अन्यथा आधा मन्तव्य तो आर्य्यसमाज का तभी सिद्ध हो जाता है जब परमेश्वर को अजन्मा मान लिया जाता है, पर स्मरण रहे कि आप इस कठिन व्रतको निवाह नहीं सकेंगे, आपतो स्वामी शङ्कर के शिष्य होने का दम भरतेहैं और इसअभिप्राय सेआपने अपने तिमिर भास्करपृ०४२२ मन्तव्य५में यह माना है कि जब यथार्थ ज्ञान होता है तब जीव ईश्वर का भेद मिट जाता है फिर मन्तव्य ६ में यह माना है कि अनादि

एक ईश्वर है उसके अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् प्रकृति सहित उत्पन्न होता है यहां तो आप "बिद्धयनादी उभावपि" गीता० अ० १३ श्लो० १९ इत्यादि गीता के सिद्धान्तों पर भी पोचा पा गए, इतना ही नहीं यहां तो शङ्कर मत में भी शङ्का कर गए. शङ्कराचार्य्य उक्त श्लोक से गीता भाष्य में इस जगत् को प्रकृति का परिणाम मानते हैं। यदि यह कहो कि परिणामात् के १। २७ के भाष्य में शङ्कर ने ब्रह्म का परिणाम माना है वहां प्रकृति को अनादि नहीं माना किन्तु ब्रह्म को ही प्रकृतिरूप माना है इस का उत्तर यह है कि "**विकारान् गुणांश्च बिद्धि जानीहि, प्रकृतिसम्भवान् प्रकृतिपरिणामान्**" गीता—शङ्करभाष्य ॥

जगत् के विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म से नहीं। एवं यहां प्रकृति को ब्रह्म से भिन्न माना है यह परस्पर विरोध रूप कांटे भी आपके पावों में ही चुभेंगे जो आप ब्रह्म से प्रकृति की उत्पत्ति मानते हैं,हमें क्या,आप अपने सिद्धान्त ही आप मिटाते हैं, सौ सौ वार मिटाऐं, हमें प्रकृति में यह अभिप्रेत था कि आप शङ्करमतानुयायी होकर अजन्मा से क्यों घबराते हैं स्वामी शङ्कराचार्य्य तो अजन्मा का ऐसा गान करते हैं कि जिस उच्चनाद को तुम्हारा यह प्रमाद कि "प्रजापतिः" इस मंत्र में "अजायमानः" "यह पदही नहीं" छिप नहीं सकता, भला इस कलङ्क को कहांतक छिपाओगे ? तुम्हारे विरुद्ध तो इस विषय में सनातन धर्म के सब आचार्य्य हैं। देखो श्री० भा० पृ० १०-४४ "**अजायमानो बहुधा विजायते**" यहां इस "अजायमानः" पद को स्वामी रामानुज ने भी नहीं छिपाया, जो तुम से कई कोटि बढ़कर सविशेष वादी थे। वेद भगवान् का लोप करना और वैदिक लोगों को **लोप कहना यह तुम्हारा ही काम है**, क्या तुम इसी बल और इसी बोध से महर्षि स्वामी दयानन्द को ललकारा करते हो ? जो

आपको इतना भी बोध नहीं कि रकार से अकार को तो पृथक् कर लें फिर अब स्वहृदयपर हाथ रखके कहिये कि दुर्बोधानन्द कौन हैं? इस मन्त्र के सत्यार्थ करने की सचाई तो आपको ऊपर के महीधर भाष्य से ही भास जायगी पर हम यहां आप के अर्थों की अपूर्वता दिखलाते हैं। आप लिखते हैं कि वह परमेश्वर गर्भ में प्राप्त होता है, बहुधा के अर्थ करते हैं कि—"**देवता मनुष्य रामकृष्णादि रूपों से उत्पन्न होताहै**" उसके जन्म को ज्ञानी महात्मा सतोगुण प्रधान पुरुष ज्ञान से सब ओर से देखते हैं।

समीक्षा—क्यों पं०साहब! जन्म तो इन्द्रिय ग्राह्य था उस को ज्ञान से कैसे देखते हैं! ऐसे जन्म के देखने के लिये उक्त धीरता की क्या आवश्यकता है? आपने तो यहां ज्ञान का फल भी अपूर्व ही बतलाया कि "**अज्ञानियों को उस का जन्मनहीं विदित होता ज्ञान का यही महत्त्व है कि उसका जन्म जान सके**"

हम और यहां क्या कहें? कलिकाल की कलाओं में आपके यह अर्थ भी एक भूषणरूप हैं, आप अवतार न धारते तो यह अर्थ भला कैसे प्राप्त होते? सनातनधर्म के सर्वफलप्रद कल्पतरुकार जी इस भाष्य बनने से पहले "**यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः**" का यदि शङ्करभाष्य पढ़ते तो इस अर्थ करने का साहस न पड़ता, पड़ता भी तो कुछ लज्जा आही जाती कि यह हम क्या करते हैं? जो योनि शब्द के अर्थ जन्म के करते हैं, जिस के अर्थ स्वामी शङ्कर ने यह किये हैं कि "भूतयोनिं भूतानांकारणम्" मुण्डक० १ इसके अर्थ आप यह करते हैं कि उस के जन्म कारण को धीर ज्ञानी पुरुष देखते हैं॥

हम यहां पूछते हैं कि उसके जन्म को देखते हैं वा जन्म कारण को? यदि कहो कि उस के जन्म को तो फिर योनि के अर्थ

जन्म कारण क्या अभिप्राय रखता है? इस के अर्थ तो "जन्मनः कारणं जन्मकारणम्" यही प्रतीत होते हैं अर्थात् उस के जन्म के कारण को धीर देखते हैं तो क्या इससे यह अर्थ लाभ हुआ कि अवतार के पिता नन्दादिकों को लोग देखते हैं अथवा जन्म लेने का जो कारण कहिये हेतु है भूभार हरणरूप उसको लोग देखते हैं वा ?"जन्मैव कारणं जन्मकारणम्" आपका यह अभिप्राय है कि उस परमेश्वर का जन्म रूप जो कारण उसको धीर देखते हैं ? यदि यह अभिप्राय है तो अर्थ यह लाभ हुआ कि उस परमेश्वर का जो जन्मरूप कर्म है उस को धीर देखते हैं। फिर यह बतलाइये कि वह जन्मरूप कर्म कारण किसका हुआ ? हम क्यों इतने विकल्पों की कल्पना करैं, आप स्वयं मान चुके हैं कि उस के जन्म को ज्ञानी लोग देखते हैं" इतने चक्र घुमा के और सनातन मार्ग भुलाके आपने यह स्पष्ट मानालिया कि "**योनि**" शब्दके अर्थ यहां जन्म के हैं ॥

हम यहां और क्या कहें ? यही कहेंगे कि इस कल्पित कल्पतरु के भरोसे सनातन धर्म के उद्धार करने वाले महात्मा जी यह अनर्थ करके आप सनातन कैसे कहलाए ? यजु० पृ० ४६८. में आप महीधर से विरुद्ध "**धीराः ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेः योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति**" । अर्थ–धीर ब्रह्मवेत्ता उस जगदीश्वर के स्थान अर्थात् स्वरूप को देखते हैं। अदृश्याधिकरण में आप श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य से विरुद्ध, यहां स्वामी शङ्कराचार्य्य ने योनि शब्द के अर्थ जगत् के कारण के किये हैं, पृ० ११३७ श्री० भा० में "**इतश्च जगतो निमित्तमुपादानञ्च ब्रह्म यस्माद्योनित्वेनाऽप्यभिधीयते**" अर्थ– इसलिये जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण ब्रह्म है जिस लिये उस को योनि

कहागया है यहां आप रामानुज से विरुद्ध, कहांतक कहें "**योनिश्चेह गीयते**" यहां आप व्यास से विरुद्ध, सूत्रकारने इस सूत्र में ब्रह्म जगत् का (योनिय) कारण माना है योंतो सहस्रों स्थल हैं जिन में आप के यह योनि शब्द के मनमाने अर्थ सर्वथा विरुद्ध, हैं, पर क्यों पुस्तक को आकार में महाभारत बनावें? सार यह है कि हम दृढ़ प्रतिज्ञा से ललकारते हैं कि किसी वेद के भाष्य में किसी उपनिषद् के भाष्य में किसी सूत्र के भाष्य में चलिये, कहांतक तुम्हारी दौड़ है किसी पुराण के टीका में, किसी कोष में और क्या यह अपना कल्पित कल्पतरु छोड़कर संस्कृत मात्र के पुस्तक मात्र में 'योनि' शब्द के अर्थ जन्म के दिखलाऐं ॥

हम इन के मिथ्यार्थ मथन में क्यों सब समय समस करें ? इस मंत्र का भाव यह है कि प्रजापति परमेश्वर सर्वान्तर्गत है, "अजायमानो बहुधा विजायते" और न उत्पन्न होता हुआ "बहुधा विजायते" बहुत भांति से प्रकट है, वे भाव जगन्नियन्तृत्वादि से अनेक हैं उस के जगत्कारणत्व रूप सामर्थ्य को इन्द्रिय अगोचर होने से धीर लोग ही जानते हैं अन्य नहीं और उस के उस सामर्थ्य में सब भुवन ठहरे हुए हैं ॥

यह अर्थ था, जिस को छिपाकर पं० ज्वालाप्रसाद ने रामकृष्णादिकों के जन्म का अर्थ बनाया है, यहां हम वैदिक धर्मानुरागियों की दृष्टि इस ओर दिलाते हैं कि आधुनिक और पौराणिक बातों को वेद से सिद्ध करने के लिये लोगों को क्या २ अनर्थ करने पड़ते हैं। ब्रह्म विद्या से विरोध करना पड़ता है, पूर्व भाष्यकारों से नए अर्थ कल्पना करने पड़ते हैं, शब्दों के अर्थ बदलने पड़ते हैं, ईश्वर के स्वाभाविक भाव परिवर्तन करने पड़ते हैं, फिर क्या जानें पौराणिक मा-

या में क्या महत्व है कि लोग उस में लिपटे हुए चले जाते हैं ॥

इस बात के निदर्शन के लिये हम निम्नलिखित मंत्र को उद्धृत करते हैः—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः—यह मंत्र श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी आया है। पं० ज्वालाप्रसाद इस का यह भाष्य करते हैं कि "हे भगवन्! आपही भारती भवानी श्रीरूप वा मोहिनीरूप अवतारों से स्त्रीरूप हैं तथा परशुरामादि अवतारों से पुमान् हैं, वामन अवतार से कुमार हैं और आप ही वृद्ध ब्राह्मण होकर दण्ड करके "वंचसि" गमन करते हो, आप ही कृष्णावतार से विश्वरूप होके प्रतीत होते हो। इस मंत्र से सब ही इतिहास पुराणप्रतिपाद्य अवतारों की सूचना की है इस कारण यह मंत्र ही सबका मूल है।

समीक्षा—आप तो लिखते हैं कि इस मंत्र से सबही इतिहास-पुराणप्रतिपाद्य अवतारों की सूचना की है और आप के बड़े वृद्धाचार्य्य श्री शङ्कराचार्य्य लिखते हैं कि यह मंत्र सब जीवों को ब्रह्म बोधन करने के लिये है। यदि हमारे वचन पर विश्वास न हो तो देखिये अंशाधिकरण प्रथम सूत्र का शङ्कर भाष्य—स्वामी यहां यह लिखते हैं कि:-" **दाशा य एते कैवर्त्ता प्रसिद्धाः, ये चामी दासाः स्वामिन्यात्मानमुपक्षिपन्ति ये चान्ये कितवा द्यूतवृत्तास्ते सर्वे ब्रह्मैवेति, हीनजन्तूदाहरणेन, सर्वेषामेव नाम-रूप-कृत-कार्य्य करण-सङ्घातप्रविष्टानां ब्रह्मत्वमाह। तथान्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामयमेवार्थः**

प्रपश्चते । त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो-मुख इति ॥"

अर्थ—दास वे हैं जो "कैवर्त्त" मच्छी पकड़ने वाले प्रसिद्ध हैं और दास वे कहलाते हैं जो अपने स्वामी को अपना शरीर दे देते हैं और जो कितव जुवारी हैं ये सब ब्रह्म ही हैं इन हीन जातिवालों का उदाहरण सब इस कार्य्यरूप जो इन्द्रियों का सङ्घात देह उस में प्रविष्ट सब जीवों को ब्रह्म बोधन करने के लिये है और यही अर्थ इस ब्रह्म प्रक्रिया में बोधन किया गया है वह ब्रह्म प्रक्रिया यह मानी गई है कि "**त्वं स्त्री त्वं पुमानासि**" इत्यादि ॥

अब कहिये, यहां किस की मानें और किसकी न मानें? आपके पुराणों ने तो मच्छ कच्छ ही अवतार बनाये थे, यहां स्वामी शङ्कराचार्य्यजीने तो मच्छी पकड़ने वाले और जूए बाज़ आदि सभी ईश्वर बना दिये। अब आप ही सोचें कि बढ़कर कौन रहा? फिर इस स्थल में आप की भारती भवानी मोहिनी इत्यादिक दश पांच अवतारों की क्या गणना होगी? जब श्री शङ्करमत में सब अवतार ही अवतार मिलेंगे, धन्य है स्वामी शङ्कर का आत्मिक-बल कि जिस से वह अपने इस अद्वैतवाद में पुराणों के सब बन्धनों को तोड़ जाते हैं। देखो अदृश्याधिकरण "**अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे, वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणोहृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येषः सर्वभूतान्तरात्मा**" अर्थ— जिसका अग्नि मुख है, और सूर्य्य चन्द्र नेत्र हैं, श्रोत्र दिशा हैं और वागिन्द्रिय उसका वेद है, वायु जिसका प्राण है, हृदय यह विश्व है और पैर पृथिवी है वह सब भूतों का अन्तरात्मा है

इस वाक्य में सर्व भूतों के कारण का निर्धारण करते हुए स्वयं आशङ्का करते हैं कि पूर्वोक्त अग्नि मुख सूर्य्य चन्द्रादि नेत्रोंवाला साकार रूप उस निराकार सर्वकारण ब्रह्म का यह विग्रह वाला रूप कैसे कथन कियागया? उत्तर यह दिया है "**सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते, नतुविग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः**" अर्थ—यह है कि अग्न्यादि मुखवाला विग्रह सर्वात्मा होने के अभिप्राय से कहा गया है साकार के अभिप्राय से नहीं, इस प्रकार ब्रह्म को सूर्य्य चन्द्रादि नेत्रों वाला कथन किये जाने से कोई दोष नहीं। यहां हमारे पौराणिक भाइयों को चाहिये कि वे इस शङ्कर मन्तव्य से यह शिक्षा लाभ करें कि स्वामी शङ्कराचार्य्य साकार का वर्णन जहां जहां करते हैं वह इस अभिप्राय से कदापि नहीं करते कि ईश्वर साकार है वा उस साकार का वर्णन मूर्त्तिपूजा में उपयोगी है किन्तु इस अभिप्राय से करते हैं कि वह सबका अन्तर्गत्मा है वा यह सब नाम रूपात्मक दृश्य ब्रह्म का विवर्त है इस में छिपा हुआ सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, फिर हम अवतार और साकार कहां से निकालते हैं? विशेष कर ध्यान इस बात पर तिमिरभास्कर नामक आधुनिक कल्पतरु की छाया में सब सनातन-धर्म्मियों को बिठलानेवाले पं० ज्वाला प्रसाद को देना चाहिये कि मैं यह क्या अनर्थ करता हूं? जो "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि" इत्यादि मंत्रों के अर्थ भारती भवानी मोहिनी आदि अवतारों के करता हूं। जब कि शङ्कराचार्य्य जैसे आचार्य्यों ने इस मंत्र में अवतार का गन्ध मात्र भी नहीं माना। फिर मैं सनातन मर्य्यादा छोड़कर क्यों यह मनमाने अर्थ घड़ता हूं।

हम यहां यह अवश्य पूछेंगे कि क्या इसी बात पर सनातन पथ पर चलने का घमण्ड कियाजाता है जो "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि" इस मन्त्र के अर्थ आजतक किसी ने अवतार सिद्धि के नहीं किये और आज

आप सब आचार्य्यों की न्यूनता पूर्ण करते हैं और ऐसे नए अर्थ करके किस मुख से सनातन होने का दम भरते हैं? यदि यह कहो कि कहीं कहीं शङ्कराचार्य्यादि भी अवतार के बीज को मान जाते हैं और हम उन्हीं के मतानुकूल अर्थ करते हैं, प्रियवर! स्वयं साक्षी बनकर निर्णय करो तो इस उत्तर से भी तुम्हारे पक्ष में उत्तमता नहीं आती, जब कि शङ्कर ने इस मन्त्र के आशय को स्वभाष्य में वर्णन कर दिया, फिर आपका इस मंत्र को अवतार में लगाना क्या सचाई रखता है? प्रत्युत सूर्य्य को खद्योत प्रकाश से प्रकाशित करने का ही निदर्शन बनता है। इतना ही नहीं हम यह भी दिखलाते हैं कि आपके तो अर्थ शङ्कराचार्य्य से सर्वथा विरुद्ध हैं। देखो शङ्कर दिग्विजय प्रकरण ११ पृ० ९६ "**अतः परस्मिन्नद्वितीये, ब्रह्मणि भवान्यास्तद्बोधकारणं घटते। अतो विद्याशब्दवाच्या भवानी तदुपासनेन चित्तशुद्धौ जातायां लिङ्गशरीरभङ्गद्वारामोक्षः**" अर्थ—अद्वितीय ब्रह्म में भवानी उस के बोध का कारण हो सकती है, इस से सिद्ध हुआ कि विद्या को भवानी कहते हैं और उस विद्या की उपासना से चित्त शुद्ध होने पर लिङ्ग शरीर के भङ्ग होने से मुक्ति होती है। इस लेख से स्वामी शङ्कराचार्य्य का आशय स्पष्ट है कि वह भवानी को विद्याही मानते थे, आपके सम अवतार नहीं मानते थे। इससे आगे बीसवें प्रकरण में दुर्गा, लक्ष्मी आदि सब मतों का स्पष्ट खण्डन है। यदि आपके समान "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि" इस मंत्र का आशय स्वामी शङ्कराचार्य्य को सूझ पड़ता तो आपके दुर्गादि अवतारों का कदापि खण्डन न करते।

भला दुर्गा भवानी अवतारों का भुगतान तो आपने इस मन्त्र में भुगता दिया पर यह तो बतलाएं कि जो "दण्डेन वञ्चसि" के अर्थ आप

यह करते हैं कि वही वृद्ध ब्राह्मण का रूप धार लाठी लेकर चलता है, यह कौन अवतार हुआ ? हमने तो आपके चौबीस अवतारों में कहीं इस बूढ़े अवतार की कथा नहीं पढ़ी, वा यह सनातन धर्म के बूढ़े होने से यह बूढ़ा अवतार आपकी लेखनी से अभी निकला है ।

यदि हमसे पूछें तो हमारे मत में तो इस मन्त्रके वही अर्थ हैं जिनको स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने अदृश्याधिकरण में सूचित किया है कि सर्वान्तरात्मा के अभिप्राय से सर्वात्मवाद के लेख वेदोपनिषदों में हैं। अर्थ यह हुआ कि हे ईश्वर ! आप स्त्री पुरुष, कुमार कुमारी, सब रूप हैं अर्थात् सब के अन्तरात्मा है, सर्वान्तरात्मा होने से जो कुमार कुमारी आदिकों के मुखादि अवयव हैं वे सर्वस्वामी होने से आपके ही हैं इस अभिप्राय से कुमार कुमारी सर्वरूप कहागया है। यदि आप के कुमार कुमारी आदि अवतार अभिप्रेत होते तो फिर जीर्ण क्यों कहा जाता, क्योंकि यह हम लिख चुके हैं कि आप का जीर्ण देहधारी कोई भी अवतार नहीं हुआ । हमारे मत में जीर्ण से यह भी तात्पर्य्य है कि आप सर्व अवस्था रहित हैं इसी अभिप्राय से परस्पर विरुद्ध अवस्थाओं का वर्णन है कि आप अलिङ्गी होने से सब अवस्थाओं में समान हैं, सर्व द्रष्टा हैं। इस उत्तम अर्थ को बिगाड़ कर आपने इस मंत्र के ऐसे अनर्थ किये हैं कि जिन में किसी सम्प्रदाय की भी मर्य्यादा अवलम्बन नहीं की, यदि शङ्कर पथ अवलम्बन करते तो इतना तो सार निकलता कि तूही स्त्री पुरुष कुमार कुमारी सब रूप तू है, अब आप के अर्थों में यह परस्पर विरोध आता है कि तू स्त्री और फिर तू पुरुष और तू (कुमार) लड़का और वही तू (कुमारी) लड़की और फिर इस से विरुद्ध तू बूढ़ा यह क्या संगति और क्या सार हुआ? फिर आप "विश्वतो मुखः" के यह अर्थ करते हैं कि आपही कृष्णावतार में विश्वरूप होके

प्रतीत होते हैं क्यों पण्डित जी! यह "विश्वतोमुखः" के अर्थ हैं? क्या सब संसार भर को अन्धा समझा है? यह माना कि जो दल केवल स्वामी दयानन्द जी को बुरा भला कहने के निन्दानाद में मग्न होकर आंखें मींचले वह इस अनर्थ को न देख सके, पर स्मरण रक्खो कि यह अनर्थरूपी धूल आप सबकी आंखों में नहीं डाल सकते। देखो यजु० १७।१९ "**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः**" इस मंत्र का भाष्य-

धर्माधर्माभ्यां भूतैश्च सन्धमति सङ्गमयति जीवान् णिजन्तत्वं ज्ञेयं कीदृशः विश्वतश्चक्षुः विश्वतः सर्वतः चक्षूंषि यस्य सः विश्वतोमुखः विश्वतो मुखानि यस्य सः। परमेश्वरस्य सर्वप्राण्यात्मकत्वात् यस्य यस्य प्राणिनो ये चक्षुरादयस्ते तदुपाधिकस्य परमेश्वरस्यैवेति सर्वत्र चक्षुरादयः सम्पद्यन्तइत्यर्थः महीधरभाष्यम्॥

अर्थ— धर्माधर्म हेतुओं से और भूतों से जीवों का गमन परमात्मा कराता है यह मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ है। वह परमात्मा कैसा है? यह वर्णन करते हैं कि वह "विश्वतः चक्षुः" है, इसके अर्थ यह हैं कि सर्व ओर चक्षु हों जिस के उसको सर्वतश्चक्षु कहते हैं। यही अर्थ "विश्वतश्चक्षुः" के किये हैं सारा भाष्य इस मंत्र का लिखने से विस्तार होता है, सार यह है कि सर्व ओर चक्षु, सर्व ओर मुख, सर्व ओर बाहू और सर्व ओर पाद, इस विरोध को भाष्यकार ने इस अर्थ से मिटाया है कि परमेश्वर सब प्राणियों का आत्मा है अर्थात् सब प्राणी मात्र में व्यापक है इसलिये जिस२ प्राणी के यह चक्षु मुखादि हैं वे सब तत्तद्देशस्थ परमात्मा के ही हैं इस मंत्र का अर्थ हमारे सर्व भूतों के अन्तरात्मा अर्थ में भी उपयोगी है पर हम ने उद्धृत इस अभिप्राय से किया है कि "विश्वतोमुखः" के अर्थ इस मंत्र में क्या हुए, यहां आपके कृष्ण का विश्वरूप दिखलाना कहां उड़-

गया, हम ने नहीं उड़ाया आपके महीधर जी ने ही उड़ाया है। उस विचार ने भी नहीं, मंत्रके अक्षरार्थ ने उड़ाया है, जिसको संधि विभक्ति मात्र का भी बोध है वह भी विश्वतोमुखः के यही अर्थ करेगा कि विश्वशब्द सर्ववाचक है और पञ्चम्यन्त से तसिल प्रत्यय है जिसका अर्थ सर्व ओर से होना है। अब बतलावें कि विश्वतो मुखः के अर्थ कृष्णावतार में विश्व-रूप होके प्रतीत होने के कैसे हुए ? आपकी सम्मति में तो यह मन्त्र मत्र इतिहास पुराण प्रतिपाद्य अवतारों का भण्डार है, फिर इसमें इतना मौन व्रत क्यों? यहां तो किसी अवतार की सूचना मात्र भी नहीं पाई जाती इसलिये यह भण्डार तो निस्सार है। आपके इस मिथ्यार्थ रूपी कदलीस्तम्भ को कहांतक उधेड़ें इसमें तो कुछ भी सार नहीं ॥

अब देखिये १२ बारहवां मन्त्र जिससे आप वामनावतार सिद्ध करते हैं इसमें क्या सार है यह बात तो सर्वसम्मत है कि इस मंत्र में वामन वा बलि का नाममात्र भी नहीं जिससे वामनावतार होने की सूचना भी पाई जाय अस्तु जिस अंश में अपना अधिक बल समझकर आप लोग अवतार वादी अवतार का अर्थ करते हैं हम उसी अंश की प्रथम मीमांसा करतेहैं वह अंश यह है कि "**त्रेधा निदधे पदम्**" इसमें जो तीन प्रकार का पद (पैर) का रखना पाया जाता है इससे वामनावतार का ही अभिप्राय है क्योंकि वामनावतार का ही तीन प्रकार से पैर रखना पाया जाता है। इसके उत्तर देने से प्रथम हम अपने वादी लोगों की दृष्टि पद शब्द के पदार्थ की ओर फेरते हैं फिर यह विचार करेंगे कि तीन प्रकार से यहां क्या आशय है ? यह बात भी सर्व-तन्त्रसिद्ध है कि "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" इस मंत्रमें जो पाद शब्द आया है वह पैर का वाचक नहीं, किन्तु ईश्वरविषय कल्पित देशरूप अंश का वाचक है। यही अर्थ स्वामी शङ्कर और रामानुज ने

अंशाधिकरण में माना है इस अर्थ को महीधर भी मानता है। कहां तक कहें सब मानते हैं देखो उव्वटभी यही अर्थ करता है कि "पादएकोंशः" किसी को भी इस विषय में विमति नहीं, दूसरे स्थान पद शब्द "**तद् विष्णोःपरमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" इस मन्त्र में आया है इस में सर्व आचार्य्य एक मत होकर परमात्मा के निराकार स्वरूप को मानते हैं जिस को संदेह हो ६। ५ महीधर में देखें, दूसरा प्रमाण शङ्कर दिग्विजय पृ० ६० **अतः पालन कर्तुर्विष्णोः पदं स्थानं सदा पश्यन्ति सूरय इत्युक्ते का वा अस्माकं हानिः पालनकर्त्ता वा विष्णुर्भवतु न चास्माकं तत् क्लेशः सर्वेषां देवानामात्मैकायनमिति बृहदाण्यकश्रुतेः, परब्रह्मणः सर्वदेवमयत्वात्॥**

अर्थ—पालनकर्त्ता विष्णु का (पदम्) स्थान सदा (सूरयः) विद्वान् लोग देखते हैं, इस कथन में हमारी क्या हानि है? पालन कर्त्ता विष्णु रहो वा ब्रह्म हो इसमें हमें कोई क्लेश अर्थात् अनिष्ट नहीं, क्यों कि सर्व देवों का एक आत्मा ही अयन स्थान है इस प्रकार ब्रह्म सर्व देवमय है अर्थात् देवों का अधिकरण होने से सब से ब्रह्म बृहत् है और वही "**तद् विष्णोः परमंपदम्**" इस वाक्य में कथन किया गया है यह आशय है अस्तु प्रकृतमें अपेक्षितांश यह है कि यहां ब्रह्म के स्वरूप का नाम पद है अतएव "**सदा पश्यन्ति सूरयः**" यह कहा है। हम क्यों इस लेख का बहु विस्तार करें जब कोई भी वादी इसके विरुद्ध नहीं, सर्व यही मानते हैं कि पद और पाद के अर्थ वेद में ईश्वरविषयक जहां२ आए हैं वहां२ स्थान वा स्वरूप के ही आए हैं पैर के कहीं भी नहीं, फिर वेदाशय विरुद्ध "**अधाग्निदधे पदम्**" में पैर के क्यों किये जाते हैं? यदि कहो कि तीन प्रकार के कथन किये जाने से यहां पैर के अर्थ लाभ होते हैं तो हम यह पू-

छेंगे कि "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**" फिर इस में भी तो चारपाद कथन किये गए हैं इससे चौपाया ब्रह्म क्यों न समझा जाय तो उत्तर यही होता है कि ब्रह्म निराकार है उसके पैर नहीं हो सकते, इसलिये चौपाया ब्रह्म नहीं हो सकता तो फिर परिणाम यह निकला कि ब्रह्म के निराकार होने से इस मंत्र में भी तीन पैर यह अर्थ नहीं हो सकते यदि यह कहो कि विष्णु कहीं साकार भी वर्णन किया गया है उसके पाद (पैर) होने में कोई बाधक तर्क नहीं हो सकता तो विचारणीय यह हुआ कि "**इदंविष्णुर्विचक्रमे**" इस मंत्र में विष्णु से निराकार का आशय है वा साकार का यह बात तो अविवाद है कि "**तद् विष्णोःपरमंपदम्**" इस मंत्र में विष्णु निराकार परमात्मा माना गया है साकार नहीं, पर हम इस शास्त्रार्थ को क्यों उठावें, कि इस मन्त्र में है कि पद से निराकार का ग्रहण है वा साकार का जब कि वादी स्वयं यह मान रहा है कि उस निराकार विष्णु का वामन अवतार हुआ, तो परिणाम यही निकला कि वामनावतार से प्रथम इसी मंत्र में वर्णित विष्णु "**तद्विष्णोः परमंपदम्**" इस मंत्र के समान यहां भी निराकार परमात्मा का ही ग्रहण था तो फिर "**तद्विष्णोः परमंपदम्**" इस मंत्र में निराकार विष्णु का पद जब स्वरूप ही समझा गया वा "**एतावानस्य महिमा०**" इस मंत्र में निराकार परमात्मा के पाद आरोपित ही समझे गए वास्तव में न थे तो ऐसे ही यहां भी आरोपित पाद ही क्यों न समझें जायं यदि वादी यह कहे कि पाद क्या ? हमारे मत में तो ईश्वरावतार भी आरोपित है तो हम वादी के अर्थ को स्वीकार करते हैं और धन्यवाद देते हैं कि आप ने आरोपित तीन पाद मानकर झगड़ा ही समाप्त कर दिया पर

अब कृपया यह बतलाएं कि वह आरोपित पाद क्या वस्तु है ! यदि कहो कि प्रकृति रूप है तो परिमाण यही निकला कि परमात्मा ने सृष्टि रचना समय में प्रकृति को तीन प्रकार से विभक्त किया, और प्रकृति रूप छोड़ दूसरे पक्ष में कुछ कहने का स्थान ही नहीं। यदि यह कहो कि बलि छलने के समय जो तीन पांवों से पृथिवी मापी थी वह तीन पांव लेंगे तो उत्तर यह है कि यह पौराणिक तीन पावों का अभिप्राय वेद में नहीं पाया जाता क्योंकि--सायणाचार्य्य और महीधर ने जो इस मंत्र से वामनावतार का आशय लिया है वह निरुक्त से विरुद्ध है, निरुक्तकार ने १२ । १९ में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तीनों रूपों से "त्रेधा निदधे पदम्" के अर्थ किये हैं। सायणादि भाष्य यास्क विरुद्ध होने में सत्यव्रत सामश्रमी का यह नोट है :—

विष्णोस्त्रिविक्रमावतारधारी इदं प्रतीयमानं सर्वं जगदुद्दिश्य विचक्रमे विशेषेण क्रमणं कृतवान् तदा त्रेधा त्रिभिःप्रकारैः पदं निदधेस्वकीयं पदं क्षिप्तवान् अस्य विष्णोःपांसुरे धूलियुक्ते पादस्थाने "समूढ" इदं सर्वं जगत् सम्यगन्तर्भूतम् इति पुराणसम्मतं सायणीयं व्याख्यानञ्च वैदिकानां नादरणीयं यास्कानुक्तेः अवतारशब्दस्यापि वेदेऽदर्शनाच्च ॥ दैवतकाण्ड पृ० २८३

एवं समीक्षण करने से सार यही निकलता है कि परमात्मा ने सृष्टि सर्ग समय में इस प्रकृति को तीन प्रकार से रक्खा, और उस रचना में सब लोग समूढ हैं अर्थात् तत्व को नहीं जान सकते, यह मंत्र का उच्चार्य था जिससे पतित होकर वादी ने यह अर्थ किये हैं

कि ईश्वर ने वामनावतार धर कर तीन पाद से सब पृथ्वी को नापा और जो यह आश्रय लिया जाता है कि सायण महीधर ने इस मंत्र को वामन अवतार होने में लगाया ह इसका यह उत्तर है कि सायण और महीधर पौराणिक समय के व्याख्यान कर्ता थे फिर उनका व्याख्यान पौराणिक भावों से रहित कैसे हो सकता है, हां यह हमने महीधर और सायण से ही सिद्ध कर दिया कि इस मंत्र से पृथक् जिन जिन मंत्रों से आपने इस पौराणिक धर्म का आडम्बर अवतार विषयमें बांधा था वह सब सायण और महीधर ने साफ़ कर दिया। रही यह बात कि यहां वे क्यों तुमारे पक्षपाती हुए? इसका कारण यह है कि कुशकाशावलम्बनन्याय से उन विचारों ने भी इसी मंत्र में अवतार को सराहा देना सार समझा, इस से यह आशय कदापि नहीं निकलता कि इस से आप का पक्ष पुष्ट हुआ किन्तु आशय यह निकलता है कि सम्पूर्ण वेद के आन्दोलन करने से सायण और महीधर को अवतार सिद्धि के लिये यही मंत्र सहारा मिला और सायण ने तो यह कहकर कि "सेयं ऋक् यास्केनेत्थं व्याख्याता" अवतारविषयक मिथ्यार्थ का बोझ अपने सिरसे उतार दिया॥

रहा महीधर, सो महीधर ने पहिले भी "**प्रतद् विष्णुः**" इस मंत्र में कुचरः के अर्थ करते समय "मत्स्यादि रूपेण चरतीति कुचरः" यह कह कर अवतार का बीज सूचित किया था जिस मंत्र को आधुनिकाचार्य्यों ने नृसिंहावतार में लगाकर महीधराचार्य्य की भूल सिद्ध कर दी, सो एवं भूलनेवाला महीधराचार्य्य अकेला ही यहां अवतार वादियों का पक्षपाती है, जो बहुत नए समय का है अस्तु इस विचारे ने भी और मंत्रों में अवतारवादियों का पक्ष नहीं

किया। यही भाव उव्वटाचार्य्य ने भी माना है कि "**पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदम् भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदम्**" अर्थ– अग्नि वायु और सूर्य्य रूप से विष्णु व्यापक परमेश्वर ने अपना विभूति रूप पद रक्खा।

अब बतलाएं कि तुम ने जो वीसियों मंत्रों के अनर्थ करके अवतार सिद्धि का भार स्वशिर पर लिया, उस की क्या प्रतिष्ठा रही? जब और कोई भाष्यकार भी तुम्हारे इस मनमाने अर्थ के साथ सम्मिलित नहीं होता तो क्या तत्व निकला, तुम तो आर्य्यसामाजिकों को कहा करते थे कि तुम्हारे अर्थ सनातन भाष्यकारों से विरुद्ध हैं। यहां समीक्षण करने से परिणाम सर्वथा उलटा निकला, प्रत्युत आप के पौराणिक मन्तव्य पौराणिक समय के सायण महीधर उव्वटादि भाष्यकारों से विरुद्ध हैं इस से परे और आश्चर्य क्या हो सक्ता है हमारे निराकार ईश्वर विषयक मन्तव्य में तो" **सपर्य्यगादित्यादि**" मंत्रों में आप के महीधर शङ्करादि सब की भांति हम से मिल गई एवं हमारे निराकार ईश्वर मन्तव्य को तो किसी ने भी उलङ्घन नहीं किया, और इस अंश में आप भी सहमत हैं कि वेदों में निराकार ईश्वर का भी वर्णन है और आप अपने मन्तव्य में निराकार भी मान चुके हैं फिर उस के लिये कोई मंत्र क्यों नहीं दिया, यों तो आजकल के वादियों ने वेदार्थ सिद्धि के लिये इतने पुस्तक लिख डाले हैं पर अपने निराकार साकार इस उभयवाद की सिद्धि में निराकार को सिद्ध करने के लिये एक अक्षर भी नहीं लिखा॥

इस पक्षपात से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक भावों के मण्डनकर्ता नाम के सनातनी तत्व निर्णय के लिये लेख नहीं लिखते किन्तु

स्वार्थ सिद्धि के लिये अनर्थ रूपी लेख वेदों पर बढ़ाते चले जाते हैं जिस के मिथ्यार्थ हमने इस समुल्लास में सायण महीधर उव्वट स्वामी शङ्कराचार्य्यादिकों के विरोध से स्पष्ट करदिये ॥

इत्यार्यमन्तव्यप्रकाशे तृतीयः समुल्लासः

समाप्तः

समाप्तञ्च पूर्वार्द्धम्

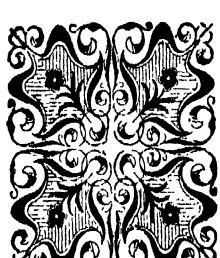

ओ३म्

अथऽयार्य्यमन्तव्यप्रकाशे तर्कनिरीक्षणं नाम चतुर्थः समुल्लासः प्रारभ्यते

तृतीय समुल्लास में नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा के जन्मनिरूपणार्थ उद्धृत किये हुए वेदमंत्रों का अर्थाभास दिखलाया गया और उन मिथ्यार्थों का समीक्षण भी किया गया। इस समुल्लास में गीतादि ग्रन्थों के जो मिथ्यार्थ किये गये हैं उन का समीक्षण और तर्काभास द्वारा जो ईश्वर का जन्मनिरूपण किया जाता है उस का निरीक्षण करेंगे।

सनातनधर्मावलम्बी आधुनिक ग्रंथकार पं० साधुसिंह, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, स्वामी बालकरामादि, पौराणिक सनातन धर्म के समर्थन कर्ताओं ने प्रायः सबने यही रीति अवलम्बन की है कि जिस में जीवात्मा के जन्म के समान ईश्वर का जन्म निरूपण किया है। यह प्रश्न उठाकर इस बात को इस प्रकार समर्थन किया है कि यदि अज अविनाशी होना ही ईश्वर के जन्म में बाधक है तो जीव भी तो "**न जायते म्रियते**" इत्यादि प्रमाणोंसे अज और अविनाशी है, जिस प्रकार जीव अजन्मा का जन्म हो सकता है इस प्रकार ईश्वर अजन्मा का भी जन्म होता है इस विषय में कई एक वेदान्त और योग सूत्रों का भी प्रमाण दिया है कि जीव का जन्म वास्तव में नहीं किन्तु गौण है एवं ईश्वर का भी जन्म गौण है मुख्य नहीं।

हमारी समझ में यह तर्क उन्होंने केवल अल्पबुद्धियों के सम्मोहनार्थ रचा है। ऐसा कौन निराकारवादी है जो केवल अजन्मा अविनाशी आदि ईश्वरगुणों को ही ईश्वरावतार के अभाव में हेतु बतलाता हो, किन्तु निराकारवादियों की ओर से अवतार के निषेध में तर्क यह दियाजाता है कि ईश्वर पर्य्याप्तकाम है अर्थात् उस की

सब कामना पूर्ण हैं, और वह सर्वव्यापक है सर्वशक्तिमान् है, सम्पूर्ण भूगोलों की जन्म स्थिति प्रलय भी निराकार ही करलेता है, फिर उसे जन्म धारण की क्या आवश्यकता है ? ।

उक्त प्रश्न को छोड़कर अपनी ओर से अजन्मा का मनमाना प्रश्न बनाकर उत्तर दिया है, और किसी २ महात्मा ने ऐसा भी कहा है, जैसे कि " महान् शोक का अवसर है वज्रपात होय इन मन्दों की कुतर्कोंपर जबकि साक्षात् भगवान् ने ही **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**" इत्यादि वचनों से इन शङ्काओं का मूलोच्छेद करदिया, फिर उन्हीं शङ्काओं का उत्थान करना केवल मूर्खता ही है, अबोध ध्वान्त पृष्ठ ३१।।ऐसे शिथिल पुनः क्रोधरूपी तिमिर से आच्छन्न और मिथ्यार्थ छद्मछन्न तर्कों में हम विशेष समय व्यर्थ नहीं लगाना चाहते, पर इस की समीक्षा में इतना अवश्य कहेंगे कि जिन कृष्णजी के ईश्वरावतार होने में प्रश्न था उसी भगवान् का वचन आप प्रमाण में देते हैं इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है?यदि यह कहा जाय कि गीता तो व्यासजी की ग्रन्थन की हुई है, तो फिर उसे साक्षात् भगवान् का वचन कथन करना व्यर्थ है। इस प्रकार तर्कहीन लेखों को हम यहां लक्ष्य नहीं रखते, यहां हम पं० आम्बिकादत्त की अवतार मीमांसा की प्रश्नोत्तरप्रणाली को लक्ष्य रखकर अवतारविषयक प्रश्नों के उत्तरों का समीक्षण करते हैं। उक्त विषय को हम निम्नलिखित सात प्रश्नों में विभक्त करते हैं, प्रायः यही तर्क हैं जिन के अवतार निरूपण में पं० आम्बिकादत्त ने पूर्वपक्ष किया है ॥

१ प्रश्न—आप्तकाम सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमात्मा का अवतार लेने में क्या प्रयोजन है ?

२ प्रश्न—आप्तकाम सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् सर्वकल्याण गुणों की राशि का जन्म लेना कैसे सम्भव हो सकता है ?

३ प्रश्न—यदि लीलानिमित्त कहाजाय ता आप्तकाम परमेश्वर को मानवलीला से क्या लाभ ?

४ प्रश्न-यदि कल्पना करलिया जाय कि उत्तम मानवलीला हो भी तो तिर्यक् योनि में वराहादिलीला, मानलीला विहारलीला, चीरलीला, रासलीलादि श्रेष्ठजन आचारविरुद्ध लीलाओं से क्या लाभ !

५ प्रश्न—अवतारों ने मर्य्यादापुरुषोत्तम मनुष्यों से बड़ा क्या काम किया है ?

६ प्रश्न—पूर्णावतार और अंशावतार में क्या भेद है ?

७ प्रश्न—अवतारों के शरीर भौतिक हैं वा मायिक !

प्रथम प्रश्न का भाव यह था कि जब परमात्मा आप्तकाम अर्थात् पूर्णकाम है उस की कोई कामना ऐसी नहीं जो पूर्ण न हो और अवतार लेने से प्रथम ही अवतार के स्थान में विद्यमान है और जो काम अवतार लेकर करना चाहे वह सब विना अवतार ही कर सकता है फिर उसे अवतार धारने में क्या प्रयोजन ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दियाजाता है कि जो प्रयोजन पूर्ण परमेश्वर का सृष्टि करने में है, वही अवतार धारण में है। सृष्टिरचना में प्रयोजन शास्त्रकारों ने लीलामात्र माना है, सोई प्रयोजन अवतारधारण में है। यह उत्तर वादी का सर्वथा सत्य से गिरा हुआ है क्योंकि सृष्टिरचना में प्रयोजन निष्फल लीला ही नहीं किन्तु जीवों के कर्मों का फल देना प्रयोजन है और वहां लीला इस अभिप्राय से कहा गया है कि सृष्टि रचने में पूर्ण ईश्वर को कोई आयास नहीं प्रतीत होता, किन्तु समर्थ पुरुष के सम लीला ही प्रतीत होती

है। यदि लीलामात्र प्रयोजन ही शास्त्र का अभिप्राय होता तो सूत्र ३४ स्मृतिपाद में वैषम्य और नैर्घृण्य का उत्तर पूर्व कर्मों की अपेक्षा न दिया जाता। सृष्टिरचना में ईश्वर का प्रयोजन लीलाकथन करने पर प्रश्न यह हुआ था कि जो कोई पुरुष सर्वसाधनसम्पन्न सब से बड़ा होता है, और कोई महादीन दरिद्र होता है, एवं कोई सदासुखी और कोई महादुखी इस का क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि व्यास ने ब्रह्मसूत्रों में यही दिया था कि पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों से यह भेद है, इसलिये ईश्वर का कोई दोष नहीं, इत्यादि शास्त्र का आशय समझ कर यदि वादी उत्तर में प्रवृत्त होता तो कदापि जगत् रचनारूप ईश्वर लीला के सहारे कृष्णलीलादिकों के मण्डन में चेष्टा न करता।

यदि लीला प्रयोजन भी मान लिया जाय तो कहां यह उच्चलीला कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की रचना करना जिस में नियत स्थान और नियत समय मे सूर्य्य चन्द्रादिकों की गति पाई जाती है और सदैव सृष्टि के आदि में वह आदि पुरुष इसी प्रकार सृष्टि रचना करता है "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" सम्पूर्ण का धारणकर्त्ता वह परमात्मा सदैव से इसी प्रकार सूर्य्य चन्द्रादिकों की रचना करता है। और कहां यह नीचलीला—कहीं युद्ध में पीठ दिखला जाना, कहीं शत्रु को निर्बल देखकर जा कूदना और आप से अधिक बली देखकर मेल कर लेना, यह उत्तम पुरुषों की मर्य्यादा से गिरी हुई लीला वादी इस बात को निम्नलिखित श्लोकों में स्वीकार करता है।

"मनुष्यधर्मशीलस्य लीलासा जगतः पतेः। शास्त्राण्यनेकरूपाणि यदरातिषु मुञ्चति॥ मनसैव ज-

गत्सृष्टिसंहारञ्च करोति यः । तस्यारिपक्षक्षपणे कोयमुद्यमविस्तरः ॥ तथापि यो मनुष्याणां धर्म्मस्यमनु वर्त्ततेःकुर्वन् बलवता सन्धिहीनैर्युद्धं करोत्यसौ ॥ सामचोपप्रदानञ्च तथा भेदं प्रदर्शयन् । करोतिदण्डपातञ्च क्वचिदेव पलायनम्॥मनुष्यदेहिनां चेष्टा मित्येवमनुवर्तत। लीला जगत्पतेस्तस्य छन्दतः सम्प्रवर्तते ॥ विष्णुपुराण अंश ५ अध्याय १२ श्लोक १४ से १८ तक,॥

कहते हैं कि मनुष्य धर्म के अनुकरण करने वाले भगवान् की यह लीला है कि शत्रुओं पर भांति २ के शस्त्र फेंकते हैं ॥ जो मनही से सृष्टि संहार करता है उनको शत्रुदलसंहार के लिये उद्यम क्यों तो भी जो मनुष्य धर्म के अनुसार हैं कि बलवान् से मेल और अल्पबल वाले से युद्ध करना, सो करते हैं । मनुष्योंकी रीतिके अनुकरण वाले भगवान् की यह केवल लीला ही है ॥

समीक्षा:—तीसरे श्लोक के अर्थ वादी ने श्लोक के आशय से सर्वथा विरुद्ध किये हैं । श्लोक का आशय यह है कि वह यद्यपि मन से ही सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय कर सकता है उसके लिये शत्रुदल का नाश क्या उद्यम है, तब भी मनुष्यों के धर्म का अनुकरण करके परमात्मा ने बलवालों के साथ मिल करके विचारे निर्बलों से युद्ध किया और वादी ने यह किया है कि मनुष्य का धर्म जो बलवालों से सन्धि कर लेना निर्बलों से लड़ना इसका अनुकरण परमात्मा ने युद्ध किया, इस प्रकार श्लोकाशय बदल देने से बहुत भेद पड़ जाता है । बलवालों से मेल और निर्बलों से युद्ध यह मनुष्य का धर्म नहीं, किन्तु विपत्ति समय में मनुष्य ऐसा करे अथवा यह नीच नीति अवलम्बन करे यह और बात है ॥

अस्तु, मनुष्य का यह उक्त धर्म कोई येन केन प्रकार से निरूपण करभी दे, फिर भी यह परमात्मा को नहीं सजता। और फिर कृष्ण जी जैसे मर्य्यादा पुरुषोत्तम को, जिनका यह सिद्धन्त है कि " **यद् यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते** " गीता ३। ३१। अर्थ---- जो श्रेष्ठ लोग काम करते हैं अन्य लोग उसी का अनुकरण करते हैं, जो वे प्रमाण मानते हैं लोग उसी को प्रमाण मानते हैं। ऐसे उच्च भावों वाले कृष्ण के लिये जो यह कथन किया गया है कि वह मनुष्य का अनुकरण करके सब काम करते हैं, यह कवि लोगों की वञ्चना मात्र है॥

फिर इस लीला से भिन्न वादी ने तीन उद्देश्य अवतार लेने में और बतलाए हैं (१) दुष्टों के दमनपूर्वक सत्पुरुषों की रक्षा (२) धर्म की रक्षापूर्वक जगत् का मंगल (३)सगुण लीला द्वारा समय के प्रत्यक्ष उपासक तथा भविष्यत् काल के उपासकों का सौकर्य्य साधन॥

समीक्षा-अवतारसिद्धि का यह ऐसा विषम मार्ग है। जिसमें लाखों यात्री प्रमाण पथ में भटक रहे हैं कौन कह सकता है कि यह आपका प्रथम उद्देश्य दुष्टों के दमनपूर्वक सत्पुरुषों की रक्षा करना सब अवतारों में घटता है। देखो श्रीमद्भागवत ९। १६।१९॥ **त्रिस्सप्त कृत्वः पृथिवीं, कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः। समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान्नव**। अर्थ-इक्कीस वार प्रभु परशुरामजी ने पृथिवी निःक्षत्रिया अर्थात् क्षत्रियों का बीज नाश करके नौ तालाब रुधिर के भरे, इस क्षत्रिय रुधिररूप जल से परशुरामजी ने अपने पिता का तर्पण किया। क्या कोई कह सकता है कि इतने क्षत्रिय नाश करके परशुरामावतार ने कौनसे सत्पुरुषोंकी रक्षा की ? हमारी सम्मति में तो भारतका बेड़ा आपके इसी अव-

तार ने डुबाया है, जिसने लोक मर्य्यादा के सेतु क्षात्र धर्म को नष्ट किया। दूसरे क्या बुद्धावतार में आपका प्रथम उद्देश्य घटता है जिसने वैदिक धर्म का खण्डन करके शेष रहे ब्राह्मण धर्म को भी नष्टप्राय किया।

नर और नारायणावतारने धर्म की रक्षापूर्वक कौनसा जगत्का मङ्गल बढ़ाया? और वराह ने कौनसे उस समयके उपासकों को अपनी सगुण लीला द्वारा लाभ पहुंचाया तथा भविष्यत् काल के उपासकों का क्या उस शूकरावतार से सौकर्य्य साधन हुआ ?

और जो वादी ने श्री० भा० ८।५।२४ के श्लोक का प्रमाण दिया है कि "**गोविप्रसुरसाधूनांछन्दसामपिचेश्वरः रक्षामिच्छंस्तनुर्धत्तेधर्म्मस्यार्थस्यचैवहि**" अर्थ—गौ, ब्राह्मण, देवता, साधुपुरुष और वेद धर्म और अर्थ इन में से किस की रक्षा के लिये कच्छपावतार हुआ और किस की रक्षा के लिये मच्छावतार और कौन से वेद की रक्षा बुद्धावतार ने की और क्षत्रियों के रुधिर से तालाब भरनेवाले परशुराम ने किस धर्म और अर्थ को बढ़ाया ? ॥

एवं समीक्षा करने से आपके ही श्लोक आपके अवतारों में नहीं घटते, घटना तो क्या प्रत्युत उलटे पड़ते हैं। और जहां २ वादी ने अवतार सिद्धि में गीता के श्लोकों के प्रमाण दिये हैं वहां २ अपने अभिप्राय के अर्थ कर लिये गए हैं "**यदा यदा हि धर्मस्य**" यह श्लोक पूर्वोक्त उस बातके उत्तर में है जिसको श्रीकृष्णजी ने प्रथम निरूपण किया था कि यह योग पहले मैंने विवस्वान् को कहा अर्जुन ने पूछा कि उस समय आप कहां थे तो श्रीकृष्णजीने उत्तर दिया कि "**बहूनि मे व्यतातीनि जन्मानि तवचार्जुन**" हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं उन सब को मैं जानता

हूं तम नहीं जानते,तो क्या इसपूर्व जन्म के ज्ञानसेही उनमें अवतारत्व सिद्ध होगया? यदि कहो "जब जब धर्म की हानि होती है तब तब मैं होता हूं"इस कथन से अवतारत्व सिद्ध हुआ तो धर्म्म हानि में तो कई एक धर्मरक्षक पुरुष हुए हैं वह आपके पूर्णावतार और अंशावतार की संख्या से बाहर हैं फिर केवल धर्म रक्षार्थ जन्म लेनेसे ही कृष्णजी में ईश्वरावतारत्व कैसे ?

और जो " **अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम्**" इत्यादि भागवत के श्लोक अवतार सिद्धि में दिये गये हैं। यह श्लोक तो अपनी प्रमाणरूप सिद्धि में असिद्ध हैं फिर इनका प्रमाण क्या ? अर्थात् अवतार के मन्तव्य के मध्यावस्था के हैं जिस समय अवतारों का वाद सर्वथा प्रबुद्ध होगया और लोग अवतारों में भी भेद करने लगे उस समय का यह भागवत पुराण है। प्रमाण इससे अधिक क्या होसकता है कि स्वामी शङ्कर ने गीता का नाम कई एक स्थान में लिया है और इस भागवत पुराण का कहीं भी नहीं, ऐसे नवीन और सर्वथा स्वकल्पितग्रन्थ से यदि कोई अपने घर में ही अवतार सिद्ध कर बैठे उसको कौन प्रामाणिक पुरुष मानेगा? ।

अस्तु, यह भागवतवाद अप्रासङ्गिक है, मुख्य प्रसङ्ग यहां गीतार्थ का था । हमारी सम्मति में गीता में अवतारवाद नहीं और जिन श्लोकों में कृष्णजी ने स्वयं ईश्वर होने का दावा किया है उन श्लोकों का अभिप्राय ईश्वर में भेद बुद्धि के अभाव में है जैसे कि उपनिषद् के समय में भी ऋषि लोग अपने को ऐसा कथन करते रहे हैं "**अहं ब्रह्मास्मि**" यह वाक्य बृहदारण्यक में वामदेव ने कहा है और कौषीतकी ब्राह्मण में इन्द्र ने प्रतर्दन राजा को कहा है कि मैं प्राण

हूं तू मेरी उपासना कर । इस विषय को शास्त्रदृष्ट्यधिकरण में व्यासजी ने स्पष्ट कर दिया है कि अपने को ईश्वर कथन करने का अभिप्राय परमात्मा में आध्यात्मिक सम्बन्ध के बाहुल्य से है, सो कृष्ण जी का परमात्मा में बहुत सम्बन्ध था, इस बात से कोई भी पुरुष इनकार नहीं कर सक्ता । और कोई अभिप्राय कृष्ण जी का अपने आप को ईश्वर कथन करने का नहीं हो सक्ता, यदि अवतार दृष्टि से ही कृष्ण जी अपने को ईश्वर रूप से कथन करते तो "**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति**" इत्यादि श्लोकों का क्या प्रयोजन था? जो कृष्ण जी से भिन्न ईश्वर की ओर लेजाते हैं और "**क्षेत्रज्ञमपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत!**" इत्यादि श्लोक क्यों लिखे जाते? जिन में प्रत्येक मनुष्य को कृष्ण के सम ईश्वर होने का उपदेश किया गया है इन श्लोकों पर रामानुजाचार्य्य का भाष्य भी हमारे ही अभिप्राय को प्रकट करता है कि कृष्ण जी ने विशिष्टाऽद्वैत के अभिप्राय से सब क्षेत्रों में अपने को वर्णन किया है, अवतार होने के अभिप्राय से नहीं, ।

एवं मीमांसा करने से गीता अवतारवाद का पुस्तक नहीं ठहरता इस प्रणाली में सन्देह हो तो देखो शास्त्रदृष्ट्यधिकरण वेदान्त सू० अ० १ पा० १ सू० २९ और "**क्षेत्रज्ञमपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत!**" इस श्लोक का रामानुजभाष्य और जो यह कहा है कि "**जन्म कर्म्म च मे दिव्यम्**" इस श्लोक से अवतार पाया जाता है इस से तो हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है क्योंकि जन्म और कर्म की पवित्रता तो पुरुष की ही हो सक्ती है ईश्वर की नहीं, ईश्वर अक्रिय है सर्व वेद शास्त्र ईश्वर के कर्म्म का निषेध करते हैं जैसे "**द्वासुपर्णा सयुजा सखाया०**" इस ऋग्वेद के

मंत्र में ईश्वर को साक्षीरूप कहा गया है फिर उस के कर्म्म क्या ?

यदि वादी यह कहे कि अवतारूप होने से उस के जन्म और कर्म्म दोनों ही हो जाते हैं तोभी पौराणिक मतानुकूल जन्म कर्म्म की पवित्रता अवतारों में नहीं कही जासक्ती। आचार की परिभाषा में विहारलीलादिकों को कौन पवित्र कहसक्ता है और यदि कृष्ण जी ईश्वरावतार होते तो उनको इस कथन की क्या आवश्यकता पड़ी थी? कि जो मेरे जन्म और कर्म को पवित्र मानता हो वही मेरे में लीन हो सक्ता है अन्य नहीं, यह श्लोक तो कृष्ण जी के अनुष्ठान के अभिप्राय को सूचित करता है कि मैं ऐसा अनुष्ठानी हूं और मेरे इस अनुष्ठान का जो अनुकरण करता है वह मुझे प्राप्त होता है, इसी अभिप्राय से "**मन्मना भव मद्भक्तः**" इत्यादि श्लोक हैं जिनका भाष्य स्वामी रामानुज ने भी यही किया है कि मेरे जैसे मन्तव्यवाला हो और मेरे कथन किये हुए चतुर्थाध्याय के यज्ञों को करता हुआ मद्याजी बन।

एवं यह श्लोक वादी के अभिप्राय को कदापि सिद्ध नहीं करता, इस प्रकार गीता की मीमांसा है, समय मिलने पर हम इस पर टीका करेंगे, प्रकृत यह है कि गीता से अवतारवादी का अवतार वाद सिद्ध नहीं होता।

और जो यह कहा है कि कोई २ अवतार उक्त तीनों उद्देश्यों से बाहर केवल भक्तों की प्रार्थना पर ही हुआ करते हैं जैसे कच्छावतार। न जाने अवतारवादी ने दंशोद्धार का भार इस अवतार के सिर पर क्यों न दिया? यह अवतार तो सम्पूर्ण भूमण्डल का भार उठाने योग्य था, पर ठीक है वादी इस अवतार के सिर सुधार का भार कैसे देता? १-न इस अवतार ने श्रेष्ठजनरक्षणार्थ दुष्टदमन किया, २-और न धर्म की रक्षापूर्वक जगत् का मङ्गल, ३— और न सगुण-

लीला द्वारा उपासकों का मनो रञ्जन, केवल एक समुद्र मथन के समय मन्दराचल पर्वत के नीचे समुद्र मथन में सहारा दिया सो जिस का फल मीठा कडुआ दोनों हुए, यदि अमृत मिला तो शराब भी मिली जो अब बहुत लोगों को बरबाद कर रही है न यही प्रत्युत यों कहना चाहिये जिसने श्री कृष्णावतार के यादवकुल का नाश करदिया फिर ऐसे अवतार के होने में विना भक्तों की प्रार्थना के और क्या कारण कहा जाय ? ।

एवं समीक्षण करने से अवतार का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ ।

दूसरे प्रश्न का भाव यह है कि सर्वाशकाम सर्वव्यापक सर्वकल्याण गुणों की राशि परमेश्वर का, किसी एक गर्भ में जन्म लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? वह पूर्ण किसी एक गर्भ में समा नहीं सकता। यदि व्यापक भाव से उस गर्भ के भीतर मान भी लिया जाय तो प्रथम ही वहां है फिर गर्भ में आने के क्या अर्थ ? इस के उत्तर में प्रवृत्त होते अवतारवादी पं० अम्बिकादत्त व्यास ने यह स्वीकार कर के कि उक्त परमेश्वर मनवाणी का विषय नहीं, इसलिये उस में यह प्रश्न नहीं हो सकता कि उस पूर्णका अवतार लेना कैसे सम्भव है ? यह कहा है इस तर्काभास से वादी का काम नहीं चल सकता, हम यह कहेंगे कि इन्द्रियाऽगोचर होने से जब हम उस के जन्म धारण की असम्भवता नहीं कह सकते तो आप ऐसे इन्द्रियागोचर परमात्मा का जन्म धारण किस मुख से कहेंगे ?

और "**यतोवाचो निवर्तन्ते**" इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि कोई वाणी वा कोई इन्द्रिय उसको विषय ही नहीं कर सकता। यदि ऐसा ही होता तो वादी को यह सूझ कहां से पड़ती कि परमा-

त्मा इन्द्रियागोचर है उक्त उपनिषद् वचन का आशय यह है कि परमात्मा अवैदिक वाणी का विषय नहीं, और असंस्कृत मन का विषय नहीं और यह बात वादी की ओर ही उलटी पड़ती है क्योंकि वादी का यह सिद्धान्त वादी मन्तव्यके सर्वथन्त्र सिद्ध है कि अज्ञानी के लिये मूर्त्तिपूजा और भगवत् अवतारादि हैं ज्ञानावस्था में यह कुछ नहीं तो परिणाम यह निकला कि असंस्कारी अज्ञानावस्था की वृत्ति का विषय जो अवतारादिरूप है वह ईश्वर नहीं ॥

और जो यह कहा कि यों तो व्यापक हेतु से आकाश दि दृष्टान्त से चेतनाभाव का भी अनुमान हो सकता है, इसका उत्तर यह है कि हमतो इस अनुमान को दुष्ट मानते हैं प्रत्युत वादी ही ईश्वर में चेतनाभाव सिद्ध करता है जो अवतारों के शरीरों को अलौकिक मान कर ब्रह्मरूप सिद्ध करता है जिन में शरीरत्व हेतु से जड़तादि जन्ममरण रूप दोष सिद्ध हैं ॥

और सिद्धान्त उत्तर यह दिया है कि परमात्मा अपनी सर्वशक्तिमत्ता से किसी एक देश में अपना रूप प्रकट कर देते हैं और आप सर्व व्यापक हो रहते हैं ।

समीक्षा—जहां रूप प्रकट कर देते हैं क्या वहां पहले न थे ? वा पहले कम थे ? फिर सघन हो जाते हैं इत्यादि विकल्पों से सर्वव्यापक का किसी देश में स्वरूप प्रकट कर देना सिद्ध नहीं हो सकता ।

और निराकार ईश्वर के अवतार धारण कर गर्भ में आने की सम्भवता में प्रमाण यह देते हैं कि गोपियों को रास लीला में अनेक रूप दिखलाए, भा० स्कं० १० अ० ३३ श्लो० ७ अवतार मीमांसा पृ० १४

समीक्षा—यहां हमारे वादी को यह भी विचार नहीं रहा कि हम रास लीला का क्या प्रमाण देते हैं, रहता कैसे ? यह लोग तो रास

लीला में ऐसे रम गए हैं कि मानों इस से बढ़कर ईश्वर ध्यान और ईश्वर भक्ति का कोई मार्ग ही नहीं, यही शृंगार पथ ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र मार्ग है इसी मार्ग की यात्रा में इन्होंने आर्य जाति के "**नान्यः पन्था विद्यते अयनाय**" नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव पुरुष के ज्ञान से भिन्न और कोई कल्याण का मार्ग नहीं इत्यादि उच्च सिद्धान्त भुलादिये।

और जो भागवत स्कन्धादि का पता देकर अनेक रूप सिद्ध किये है यह तो ऐसा ही है जैसा किसी ने किसी से कहा कि हनुमान् का हिमालय उखाड़कर सञ्जीवनी बूटी के लिये ले आना असम्भव है इसका कोई प्रमाण दें कि हनुमन्नाटक में लिखा है। प्रश्नकर्त्ता जैसे हनुमान् का हिमालय उठा लाना गप्प समझता है ऐसे ही हनुमन्नाटक को भी गप्प का भण्डार समझता है फिर यह उत्तर क्या ? ऐसा ही यहां अवतार वादी ने किया है जो निराकार सर्व व्यापक के अवतार होने की असम्भवता दूर करने के लिये भागवत का प्रमाण दिया है, हम पहले भी सूचना मात्र से सूचित कर आए हैं और यहां फिर दृढ़ता से कहते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराण का जन्म कृष्णजी से सहस्र वर्ष पीछे हुआ, इस से और बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है? कि स्वामी शङ्कराचार्य जी ने भागवत पुराण का नाम भी नहीं लिया और गीता का जगह२ प्रमाण देते हैं, भागवत में वर्णित अद्वैतवाद का खज़ाना यदि स्वामी शङ्कर को उस समय मिलजाता तो वह गीता के सम प्रमाण देने में पीछे न रहते, फिर ऐसे आधुनिक पथ पर गिरना जो स्वयं अप्रमाण है उसका वर २ प्रमाण देना यही सूचित करता है कि वादी के पास केवल यही आधुनिक अनृत भण्डाररूप सामग्री है जिस के भरोसे इतना बल दिखलाया

जाता है कि पूर्णकाम परमात्मा महानिन्दित गसलीला के अल्पकाम के लिये नानारूप धारण करता है। और जो वादी ने "**नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च**" यह यजु० १६ । ३० का मंत्र प्रमाण देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि ईश्वर नानाप्रकार के रूप धारण करता है ॥

समीक्षा—इस मंत्र के उदाहरण से तो वादी ने सर्वथा अपने वाद का अपवाद कर दिया, क्योंकि यह नमस्ते अध्याय के मंत्र किसी अवतार के अभिप्राय से नहीं हैं। यदि इस मंत्र में अवतार का अभिप्राय होता तो इस मंत्र से पूर्व प्रकरण में "**नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च वो नमो नमः क्षत्तृभ्यः**" इत्यादि मंत्रों में सेना और सेनापति रथों वाले और बिना रथों के जो पैदल हैं इत्यादिकों को नमः कहा जाना इतना ही नहीं आगे "**नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च**" इस में कुत्ते और कुत्ते वालों को नमः कहा है क्या इन सब को ईश्वर के अवतार कोई कथन कर सक्ता है हां भक्तमाल की रीति से भक्तगण यह भी कहेंगे कि एक भक्त की रोटी उठा ले जाने के लिये भगवान् ने श्वानरूप भी धारण किया था, फिर भी जहां कुलाल और निषदादि अनेक निषिद्ध जीवों को नमस्कार किया है वहां तो वादी के लिये कोई मार्ग ही नहीं। महीधर इस विषम मार्ग में कई मार्ग ग्रहण करता है (१) "**रुद्र एवलीलया चौरादि रूपं धत्ते**,, कि रुद्र देवता ने ही लीलादि से चोरादिकों के रूप को धारण किया (२) "**वा रुद्रस्य जगदात्मकत्वात् चोरादयो रुद्रा एव ज्ञेया**,, वा रुद्र ही सब संसार का आत्मा होने से चोरादिकों को भी रुद्र ही समझना

चाहिये । (३) वा **"जीवेश्वररूपेण रुद्रो द्विधा तिष्ठति तत्रजीवरूपं स्तेनादि शब्दवाच्यं, तदीश्वरः रुद्ररूपं लक्षयति"** अथवा रुद्र दो प्रकार से रहता है एक जीवरूप होकर, एक ईश्वररूप, जीवरूप रुद्र चोरादि शब्दों से कहाजाता है वह ईश्वररूप को बतलाता है ।

"किं बहुना लक्ष्यार्थविवक्षया मंत्रेषु लौकिका शब्दाः प्रयुक्ताः,, बहुत क्या कहना है सार यह है कि लक्ष्यार्थ जो ईश्वर है उसके कथन के लिये मंत्रों में यह **"नमः ह्रस्वाय च वामनाय च"** ये शब्द कहेगए हैं अर्थात् इन सोलहवें अध्याय के मंत्रों में जो२ शब्द कहेगए हैं वह ईश्वर के नाम नहीं किन्तु लक्षण से ईश्वर के बोधक हैं ।

महीधराचार्य्य के उक्त निर्णय से अवतारवादी का यह कथन कि "नमः ह्रस्वाय च" यह शब्द ईश्वर के अवतार के अभिप्राय से आते हैं इस कथन का खण्डन होजाता है ।

अद्भुत तो यह है कि अवतार वादी पं० अम्बिकादत्तव्यास तो यहां यह मानता है कि ईश्वर में वामन होना, ह्रस्व होना, और व्यापक होना यह विरुद्ध धर्म रहते हैं जैसे "यही तो भगवान् का वैलक्षण्य है कि उन में व्यापकत्व भी रहे और एकदेशवृत्तित्व भी रहे-" अवतारमीमांसा पृ० १५ ।

इस मन्तव्य से इन के लिये तो यह नमस्ते अध्याय का मार्ग अति कठिन है, जिस में कुलालादि सब रूप परमेश्वर के कथन किये गए हैं जिन से कोई वस्तु बाहर नहीं सब साक्षात् भगवान् ही भगवान् है फिर अवतार सिद्धि में यत्न क्यों? और नमस्ते से चिड़ क्यों? इस अध्याय को महर्षि स्वामी दयानन्द ने क्षत्रि धर्म के वर्णन में ल-

गाया है जिस में सेना सेनापति क्षत्रिय आदि शब्द इस अध्याय के प्रमाण हैं ॥

यह शब्द प्रमाण के विचार का प्रकरण नहीं, वादी के इस कथन पर कि "**नमो ह्रस्वाय वामनाय**" यह ईश्वर के अवतार बोधक हैं इसके उत्तर में इतना कहा गया सारांश यह निकला कि उक्त ह्रस्वादि शब्द ईश्वर के अवतार बोधक कदापि नहीं (बृहते)इस शब्द का ह्रस्व और वामन से विरोध है क्योंकि यहां बृहत् शब्द भिन्न अर्थ के लिये आया है उसी वामन और ह्रस्व के लिये नहीं आया, इस बात को भाष्यकारों ने माना है अस्तु,

प्रश्न यह था कि पूर्ण ईश्वर कैसे एक स्थान में आकर जन्म लेता है ? इस असम्भवता का वादी ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

तीसरे प्रश्न का आशय यह था कि यदि लीला के लिये उस का अवतार माना जाय तो भी शोभित नहीं जिसकी कोटान कोटी ब्रह्माण्ड लीलामात्र है उस को तुच्छ मनुष्यलीला क्या सजती है वादी ने इसका उत्तर यह दिया है कि जब उसको सृष्टि रचने की लीला सज जाती है तो फिर मानवलीला क्यों नहीं सजती! भाव यह प्रकट किया कि जब उसे एक लीला सजती है तो सभी लीला सजती हैं ।

यह उत्तर ऐसा दुरुत्तर है कि जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम्हें यह काम नहीं सजता उसने यह उत्तर दिया कि जब मुझे भला काम सजता है तो यहां बुरा क्यों नहीं सजेगा? क्योंकि यह भी तो एक काम ही है एवं मन्तव्य यह सिद्ध किया कि "**जब परमात्मा लीला ही करने लगे तो उनको सब लीला सजती हैं**" अवतार मीमांसा पृ० १६ ।

और यहां लीला और अवतार के प्रयोजन तीन और कथन

किये हैं (१) प्रार्थना (२) प्रकृति (३) इच्छा, नन्दादिकों की प्रार्थना से अवतार लिया, गोपियों की प्रार्थना से लीला की तथा कोई लीला जगत् के उद्धार के लिये की, कोई भक्तों की प्रार्थना से, कोई अपनी प्रकृति के अनुसार; यथा जब चारों ओर जल ही जल भराथा उस समय मत्स्यलीला ही ईश्वर के स्वभावानुकूल थी, जब समुद्रमथन करना था तब कच्छावतार की लीला ही शोभित थी एवं समय २ पर अपनी प्रकृत्यनुकूल परमेश्वर को पशुलीला भी सज-जाती है फिर मनुष्य लीला क्या ? इत्यादि तर्कों से और उसी भाग-वत के प्रमाणों से वादी ने अपने अवतारमन्तव्य का मण्डन किया है इससे अधिक और युक्तिबल क्या हो सकता है ? मानवलीला के ईश्वरानुरूप होने का प्रश्न किया तो पशुलीला प्रमाण दे दिया, पशु-लीला के अनुचित होने का प्रश्न किया तो रासलीला प्रमाणत्वेन उ-दाहृत करदी, इस विषय में हम यही कहेंगे कि अब ऐसी घरों की बातों के प्रमाण देने का समय नहीं । हम इन सब लीलाओं के पुञ्ज अवतारवाद की चतुर्थ प्रश्न में समीक्षा करते हैं ।

चतुर्थ प्रश्न यह है कि यदि मान भी लिया जाय कि मानव लीला के लिये ईश्वर अवतार धारता है तो वराहादि योनियों की लीला ही उसके लिये लीला रहगई थी वा विहारलीला, मानलीला, रासलीला, चीरलीला इत्यादि निन्दित लीलायें ?।

इस प्रश्न का उत्तर वादी ने यह दिया है कि जब पृथ्वी को रा-क्षस ले गया था उस समय प्रभु की प्रकृति के अनुकूल शूकर वपु ही था क्योंकि वही कीचड़ में घुसकर यह काम कर सकता था, किरीट मुकटधारी नहीं ।

समीक्षा—क्या वादी के मत में परमात्मा के उक्त दोनों रूप ही रहगए हैं जो "किरीट मुकुटधारी योग्य न था, वराह भगवान् ही योग्य

था" यह कहा। जब उसके अनन्तरूप वादी को स्वीकार हैं तो कोई उत्तमरूप धारता तो क्या दुर्घट था ? यदि यह कहा जाय कि और रूप कोई जलचर न था तो क्या वादी ने सब जलचरों की परीक्षा लेकर वराह ही जलचर समझा जो लौकिक प्रसिद्धि में स्थलचर है? इसकी समीक्षा हम मिथ्यार्थपरीक्षा में बहुत कर चुके हैं यहां इतना ही कहदेना योग्य है कि जब परमात्मा सर्वाधार है तो क्या विना वराह पृथिवी का धारण नहीं हो सक्ता था वा इस शुभ रूप के दर्शनार्थ भी किसी की नन्दादिकों के सम प्रार्थना थी ? ।

यहां यह ध्यान रखने की बात है कि उस समय सबका यही प्रयोजन था कि राक्षस से पृथिवी छुड़ा के लाई जाय सो परमात्मा किसी रूप से लाता, कोई आपत्ति न थी, पौराणिक परमात्मा तो सदा शेषशायी भगवान् जल में ही रहते हैं फिर नए रूप धारण की क्या आवश्यकता थी? सत्य तो यह है कि "**वरञ्च तदहश्चेति वराहः वराहो विद्यते यस्य स वराहः ।**" अच्छे दिन का नाम वराह है एवंविध दिन जिसको उपलब्ध हो उसे वराह कहते हैं सोम का नाम वहां वराह है। इस वैदिक तत्व से भूलकर यह मिथ्या कथा प्रवृत्त हुई है॥

सब स्थान में एवंविध कारण नहीं है कहीं २ पौराणिक कथाओं के मूल का नाम मात्र भी वेद में नहीं ।

अब रही विहारलीलादि निन्दित लीलाएं, जिनके लेख को लौट पौट करके वादी ने अवतार मीमांसा यह सारा पुस्तक भरा है। हम इन लीलाओं को दृष्टान्त मात्र दिखाकर पञ्चम प्रश्न का समीक्षण करेंगे, विहारलीला यह कहलाती है कि एक समय कृष्णजी ने वन में वंशी बजाई, सब स्त्रियां अपना अपना घर छोड़ भगवान् के पास आगईं और अपने २ पतियों को छोड़ कृष्ण को पति मानने लगीं, एवं

अपने २ पतियों को छोड़कर कृष्ण को पति मानने का जो पुराण में उत्तर दिया गया, प्रथम हम उसी को यहां उद्धृत करते हैं।

जैसे २ गोपियों ने चाहा वैसे २ उन्होंने भी विहार किया कुछ, दोष की बात नहीं। गोपियों के पतियों में व उन में सब प्राणियों में भगवान् हरि टिके हैं इससे सर्वस्वरूपी भगवान् कृष्ण चन्द्र के विहार में कोई दोष नहीं, जैसे वायु सब में व्यापक है वैसे ही हरि भगवान् है, इत्यादि।

विष्णु पुराण भाषा अंश ५ अध्याय १३। इसको विहार लीला कहते हैं।

चीर लीला के अधिक चरित्र यहां लिखने की इसलिये आवश्यकता नहीं कि सदाचार पथ से गिरके यह ग्रन्थ पठनार्ह नहीं रहेगा। इन लीलाओं के भिन्न २ उत्तर इस कृष्णलीला के भक्तों ने दिये हैं। हम यहां पं० अम्बिकादत्त के उत्तर को उद्धृत करते हैं॥

गोपियों का यह उद्देश्य था कि पति रूप से श्रीकृष्ण प्राप्ति हो, सो श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया। इसका यह भाव निकाला है कि एवं गोपियों के पति बुद्धि से भगवान् को वरण से कर्म्म काण्ड की शिक्षा निकलती है प्रमाण इस में यह गीता का श्लोक दिया है "**नकर्म्मणामनारम्भा नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**" आगे भाष्य यह किया है कि उस कर्म्मकाण्ड के साथ भगवत्प्रेम हो तो भगवान् स्वयं उसकी च्युति को शोधन कर उसके अनुष्ठान को पूर्ण कर सक्ते हैं। प्रमाण निम्न लिखित दिये हैं "**ईश्वरप्रणिधानात् वा**" यो० सू० "**सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**" तैत्तिरीय उ० नि० ब्रह्मवल्ली १। इस प्रकार पर स्त्रियों के पति बनने में पं० अम्बिकादत्त ने सब श्रुति स्मृतियों के प्रमाण एकत्र कर दिये हैं। अन्त को स्वयं यह प्रश्न उठाकर यह उत्तर दिया है जो सब सदाचारियों को द्रष्टव्य है। प्रश्न--परस्त्रियों का पतित्व श्रीकृष्ण

ने क्यों स्वीकृत किया? उत्तर—यह आधुनिक नीति के अनुसार लौकिक पुरुषों को तो सर्वथा अनुचित है परन्तु भक्तिशास्त्र के अनुसार भगवान् को तो करना ही पड़ता है क्योंकि भगवत् गीता श्रीमुख का वचन है "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" क्योंकि भगवान् के प्रतिरोम कोटि ब्रह्माण्ड हैं उनमें एक ब्रह्माण्ड के एक लोक के एक खण्ड के कतिपय मनुष्यों के लिये जो मनु याज्ञवल्क्यादि कृत उचितानुचित का विवेक है उस सूत्र से ईश्वर का बांधना तो सर्वथा स्पष्ट ही अनुचित है। अवतार मीमांसा पृ०८३॥

समीक्षा—यहां तो पं० अम्बिकादत्त जी ने पौराणिक भाव को पूर्ण रीति से झलका दिया, और सब श्रुति स्मृतियों को इस अर्थ में गतार्थ कर दिया, कि जो गोपियों ने अपने२ पतियों को छोड़कर कृष्ण को पति बनाया, यह शास्त्रविरुद्ध नहीं। प्रत्युत ठीक ठीक गीता के उद्देश्य के अनुकूल सिद्ध कर दिया कि कर्म्म योग के विना कोई पुरुष ज्ञान योग को नहीं पासक्ता, इस प्रकार गीता की फ़िलासफ़ी भी शृङ्गार के भावों में सङ्गत करदी और "**येयथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" गीता० अ०४श्लो० ११ इस से भी गोपीजनवल्लभ होने का ही भाव निकला। इस श्लोक के अर्थ को ऐसा विस्तृत कर दिया कि अब पौराणिक भगवान् के दर्बार में किसी को रुकावट नहीं रही। सदाचारी से सदाचारी और दुराचारी से दुराचारी सब एक ही भगवत्घाट का पानी जा पीवेंगे, अब किसी को सदाचार के कठिन व्रतों में यम नियमादि कों से इन्द्रियनिरोध की आवश्यकता न रहेगी यहां तो पं०साहब थियासोफ़िष्ट भाइयों के दिमाग़ को भी अतिक्रमण कर गये, जो इतने उच्चार्थ काले कि उनविचारों के अर्थों को भी नीचे ही करगए। क्यों न करें, इस तर्क में यह सामर्थ्य उक्त पं०अम्बिकादत्तजी को ही थी कि "ब्रह्म-

विदाप्नोति परम्" इस उपनिषद श्लोक के अन्तिम वाक्य "**ब्रह्मणा सह विपश्चिता**" के अर्थ गोपियों के और कृष्ण के सम्बन्ध में लगा दिये जो आज तक सब आचार्य्यों को उक्त वाक्यार्थ मुक्तिकाल में ब्रह्म प्राप्ति के ही सूझे थे, ठीक है ॥

सदाचार के अर्थ तो यहां यह कर लिये गए हैं कि इसलोक का क़ानून सदाचार मनु याज्ञवल्क्यादि का परमेश्वर के लिये नहीं। यह नया मन्तव्य सनातनधर्म संस्कार में इसी शतक १९०० में बढ़ने लगा है। आश्चर्य्य नहीं कि किसी दिन वेद संहिता के भी ऐसे उच्चार्थ किये जाने लगें और वेद भी मनु याज्ञवल्क्यादि कानून के सम ईश्वर रूप सदाचार का निर्णायक न रहे। यहां विचारणीय यह है कि मान भी लिया जाय कि आप के ईश्वर का बनाया सदाचार ईश्वर का बन्धन रूप सूत्र नहीं, पर जिन विचारे गोपों की स्त्रियें उन की आज्ञा की विना जैसा कि पुराणों के अनन्तस्थलों में वर्णित है कि कृष्णजी की स्त्रीयें बन गईं तो उनके लिये तो मनु और याज्ञवाल्क्य का कानून उन गोपों के अधिकार स्थिरता के लिये भी मनु याज्ञवल्क्यका क़ानून यथार्थ था, उसको आप के परमेश्वरने क्यों पालन नहीं किया?।

कहां तक खोलें इस पौराणिक अवतार वाद में सहस्रों दोष हैं जिन मण्डन करना किसी की सामर्थ्य में नहीं। अस्तु, प्रकृत यह था कि ऐसी निषिद्ध लीलाओं के लिये परमेश्वर क्यों अवतार धारण करता है इसका उत्तर न देकर अवतारवादी उक्त निषिद्ध लीलाओं के उत्तर में प्रवृत्त हुआ।

पाचवां प्रश्न यह था कि अवतारों ने मर्य्यादापुरुषोत्तम पुरुषों से बढ़कर क्या काम किया! इसका उत्तरवादी ने उसी भागवत की प्रणाली से दिया है कि कृष्ण के जन्म समय ही अद्भुत भाव थे, जैसे कि किरीट कुण्डल आदि से विभूषित चतुर्भुजरूप और ऐसा कोई भी

अवतार नहीं जिस में कोई अद्भुत भाव न हो, जैसे मत्स्य का पड़े २ बढ़ जाना, कच्छ का मन्दराचल को धारण करना इत्यादि ॥

समीक्षा — उक्त अद्भुत भाव सब आधुनिक ग्रंथों की ही लीला है। यदि सत्य भी माने जायें तो भी और पुरुषों से बढ़कर अवतारों के चरित्र नहीं। जैसे कि हनुमान का सूर्य्य भक्षण करजाना और हिमालय का हिस्सा उठालाना, किस अवतार से कम काम है? रावण का कैलास उठालेना। यदि यह कहा जाय कि रावण तो रामचन्द्र जी के हाथ से मरा फिर क्या अधिक हुआ, प्रत्युत न्यून ही हुआ। इसका उत्तर यह है कि मरना जीना तो आप के अवतारों के साथ भी लगा ही हुआ है जैसे कि कृष्णका जरा नामा व्याध के हाथ से मरना पुराणों के प्रमाणों से सिद्ध है। वादी इस में यह उत्तर देगा कि वह तो शाप था। हम कहेंगे, रावण को भी शाप ही था। एवं शाप की कहानिएं सब में समान हैं यह सब कथांए पीछे से बनाली गई हैं। प्रकृत यह है कि जब भीष्मजैसे वीरों में बड़े २ विचित्र भाव पाए जाते हैं फिर क्या जानें परशुरामादिकों में इन से क्या बढ़कर था, जिस से वे अवतार माने गये, हमारी समझ में भेद था तो इन्हीं ऊंचनीच भावों का था कि विचारे भीष्म ने बड़े २ भीष्मव्रत धारण करके इस क्षत्रिय कुल की तीन पुरुषातक रक्षा की और प्राण त्यागने के समय भी उस भारतयुद्धरूप दावानलदग्ध भारतवन को शान्तिपर्वरूपी सुधावृष्टि के सिञ्चन कर गए ॥

और दूसरी तरफ़ अवतार परशुराम में यह नीच भाव कि उस के पिता को एक क्षत्रिय ने मारा था, इस पलटा लेने के नीच भाव से उस ने इक्कीसवार क्षत्रिय वंश का बीज नाश किया, क्या यही अवतारों में अद्भुत भाव थे? जिसकी तुलना मर्य्यादापुरुषोत्तमपुरुष नहीं करसक्ते ?।

रही यह बात कि रामकृष्णादिकों में जो ऊंचभाव थे, इससे उन को हम मर्य्यादापुरुषोत्तम मानते हैं और वे मर्य्यादापुरुषोत्तम थे। यदि अवतार हेतु से ही उन में अद्भुतभाव होते तो आप के और अवतार परशुरामादिकों में क्यों न होते ?।

और जो कच्छ मच्छादि अवतारों में अद्भुत भाव बतलाए गए हैं वे भी शेष का पृथ्वी सिरपर धरे ही रखना, हिरण्य कशिपु का पृथ्वी उठालेजाना, अगस्त्य का उससमुद्र का आचमन करजाना जिस में वादी के मच्छ भगवान् साक्षात् भगवान् ने वृद्धि पाई, इन गप्पों से बढ़कर नहीं ?।

छठा प्रश्न यह है कि पूर्णावतार और अंशावतार में क्या भेद ? इस का उत्तर वादी ने यह दिया है कि जो एक ही किसी विशेष काम के करने के लिये आते हैं और उसे पूरा करके चले जाते हैं वे अंशावतार कहलाते हैं अथवा जो थोड़े ही उद्देश्यों का साधन कर तिरोहित हुआ करते हैं वह अंशावतार हैं और जो लगातार काम करते रहते हैं वे पूर्णावतार कहलाते हैं। एक २ काम करके चले जाने से वा थोड़ा काम करके चले जाने से मच्छ कच्छादि बड़े २ अवतारों को वादी ने अंशावतार की श्रेणी में रक्खा है और रामकृष्ण इन दो अवतारों को पूर्णावतार माना है।

पहिले तो यह बात पोराणिक सिद्धान्त से विरुद्ध है कि मच्छ कच्छवराहादि एक २ काम के लिये ही आए थे अथवा थोड़ा काम करने के लिये आए थे, देखो वराह पुराण अध्याय ११६। वराह भगवान् जी ने ऐसा गुप्त सर्ववेदशास्त्र का साररूप उपदेश उस पृथ्वी को किया है, जिस को राक्षस के हाथ से वराह जी छुड़ाकर लाए थे। इस उपदेश में निम्नलिखित स्तोत्र का पाठ बतलाया गया

है—" ओ३म् नमो नाराधणाय, यजामहे दिव्यपरं परेशमनादिमध्यान्तमनन्तरूपम्। भवोद्भवं विश्वकरं यजामहे॥कान्तञ्च कालादिरूपमाद्यमनन्तरूपञ्च महानुभावम्। संसारमोक्षाय कृतावतारं यजामहे सोमपथे भवन्तम्॥ सोमार्कनेत्रं शतपत्रनेत्रं जगत्प्रधानं जनलोकनाथम्।श्रुत्युक्तसंसारविमोक्षणञ्च" ॥

यह स्तोत्र है, जिस का वराह भगवान् जी ने भवसागर से पार होने के लिये विधान किया है। वास्तव में उक्त स्तोत्र वेदशास्त्र का सार भूत है, इस में एक निराकार परमात्मा के ध्यानका विधान है-कठिनाई केवल इतनी ही है कि वराह जी ने यहां यह कहा है कि इस स्तोत्र को जो लोग मेरे चरणकमलों में चित्त देकर पढ़ते हैं। उन्हीं के सर्वकाम सफल होते हैं" यहां हम इस बात में चकित हैं कि वराहावतार कथनानुसार किसके चरण कमलों का ध्यान धरके यह स्तोत्र पढ़ना चाहिये? यदि पं० अम्बिकादत्त व्यास के कथनानुकूल कीचड़ में घुसने वाले वराह के चरण कमलों का ध्यान जिज्ञासु जन धरे तो उक्त स्तोत्र के आशय से विरुद्ध है। यदि विराट् स्वरुप के ध्यान का आशय निकालें तो वह स्तोत्रवर्णन में ही स्पष्ट है कि साक्षात् भूभारहर्ता वराह भगवान् जी को स्व चरण कमलों के ध्यान विधान करने की क्या आवश्यकता थी अस्तु इस गहराई का आशय तो हमारे थियोसोफिष्ट भाई ही निकाल सकते हैं। इन बुझारतों के बूझने का उन्हीं को अधिकार है। प्रकृत में इस उदाहरण से यह अंश विवक्षित है कि उक्त वराहादि अवतार जिन्होंने न केवल पृथिवी छुड़ालाने काही काम किया किन्तु उपदेश में भी कृष्णजी से किसी प्रकार कम नहीं, जिसको सन्देह हो वह उनके वराह पुराण के उप-

देशों को पढ़के देखले, एवं मत्स्य भगवान् ने भी सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म्मों का मत्स्यपुराण में उपदेश दिया है फिर उक्त अवतारों को पं० अम्बिकादत्त अंशावतार कैसे कह सक्ता है ।

और जो यह कहा है कि रामचन्द्र और कृष्णजी दोनों ही पूर्णावतार थे यहां रामचन्द्रजी को पूर्णावतार केवल हिन्दू राम भक्तों की प्रसन्नता के लिये कहा है **"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"** इस भागवत के आशय से सर्वथा विरुद्ध कहा है क्योंकि उक्त श्लोक में केवल कृष्णजी को ही पूर्णावतार माना गया है और जो यह कहा है कि कृष्णजी में तो पूर्णता चारों ओर से बर्षी पड़ती थी । हमारे विचार में यह तो ठीकही कहा है क्योंकि पं० अम्बिकादत्त पूर्णावतार के यही चिन्ह मानते थे जिसमें कोई भी कमी नहो, सो कृष्णजी उनकी राय में सभी कामों में पूरे थे, रास-लीला में देखो तो पूरे, विहारलीला देखो तो पूरे, चीरलीला देखो तो पूरे, कहां तक लीलाओं की लड़ियें कथन करें उनके बिचार में कृष्णजी सब काम में ही पूरे थे,पर हम उनकी इस पूर्णावतार की परिभाषा को नहीं समझे क्या " पूर्णस्यावतारः पूर्णावतारःवा पूर्ण एव अवतारःपूर्णावतारः"

यदि प्रथम विकल्प मानें जिसके अर्थ यह हैं कि पूर्ण के अवतार को पूर्णावतार मानते हैं तब तो अंशावतार ही सिद्ध हुआ यदि दूसरा विकल्प मानें जिसका अर्थ यह है कि पूर्ण ही जो अवतार हो वह पूर्णावतार कहलाता है तो क्या कृष्णजी से शेष ब्रह्म नहीं रहा था सारा पूरे का पूरा ही कृष्णरूप होगया, **"कृत्स्नप्रसक्ति निरवयवत्वशब्दकोपो वा"** २ । १ । २६ ।

इत्यादि शास्त्र से तो दोनों प्रकार कृष्ण ईश्वरावतार नहीं सिद्ध हो सक्ते, उक्त वेदान्तसूत्र का आशय यह है कि यदि सारा ब्रह्म

एक में आगया तो शेष ब्रह्म न रहा, यदि आधा या कोई अंश आजाना मानों तो निरवयव विधान करनेवाला शास्त्र व्यर्थ हो जावेगा, यदि उक्त शास्त्र के विरोध को छोड़कर भी पं० अम्बिकादत्तजी पूर्णावतार और अंशावतार के निर्वचन को ठीक मानें तब भी कृष्ण पूर्णावतार सिद्ध नहीं होते। क्योंकि कृष्णावतार के समय कई एक और अवतार भी थे। नारदावतार थे, व्यासावतार थे, बलभद्रावतार थे, उक्त चार अवतार के एक ही समय में भिन्न २ विद्यमान होने पर कृष्ण पूरा ब्रह्म कैसे था ? ॥

यदि पं० आम्बिकादत्त के इस अवतार के निर्वचन को भी अङ्गीकार किया जाय जो तीसरे प्रश्न के उत्तर में कहा है। वस्तुतस्तु सर्वव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा कहीं अपने दिव्य आकार को प्रकटकर देते हैं, आप सर्व व्यापक ही रहते हैं और एक देश में आकार रहता है। तब भी अंशावतार और पूर्णावतार का मन्तव्य ठीक नहीं ठहरता, क्योंकि जो एक देशमें आकार प्रकट किया यह अंशावतार कहलाया और जो शेष रहा वही ब्रह्म रहा। तब भी तो कृष्ण पूर्णावतार न हुए ॥

और एक देश में आकार प्रकट कर देने का हम प्रथम खण्डन कर आए हैं एवं परीक्षा करनेसे सार यह निकला कि इस अंशावतार और पूर्णावतार के मन्तव्य ने तो अवतारवाद को सर्वथा शिथिल कर दिया, क्योंकि "**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**" "**अंशो नाना व्यपदेशात्**" इत्यादि गीता और वेदान्त के प्रमाण से सब जीव ही अंशावतार हुए। हमारे मत में तो अंशके अर्थ यहां ब्रह्मान्तर्गत रहनेवाले जीव के हैं इसीलिये गीता के पूर्वोक्त प्रमाण में उसे सनातन कहागया है। यदि ब्रह्म ही अंश

हो जाता तो सनातन कदापि न कहा जाता, क्यों कि उसके अंश-रूप होने से प्रथम अंश का अभाव था एवं अवतार रूप अंश व जीव रूप अंश ब्रह्म ही होगया यह सर्वथा असम्भव है इस बात को इस सातवें प्रश्न में स्पष्ट करते हैं।

सातवां प्रश्न यह है कि अवतारों के शरीर पाञ्चभौतिक हैं वा मायिक ?। इस प्रश्न के उत्तर में पं० अम्बिकादत्त ने तो सब उत्तर दाताओं से अलौकिक ही लीला की है, जो अवतारों के शरीरों में कुछ पाञ्चभौतिकत्व और बहुतसा अलौकिकत्व माना है।इस पार्थिव शरीर के अधिकांश पार्थिव भाग के सम अधिकांश अलौकिकत्व और अल्पांशलौकिकत्व है, यह उनका आशय है। भौतिकत्व अल्प होने से भी भौतिक शारीर के दोष बने ही रहेंगे फिर निर्वाह कैसे होगा? अथवा अवतार शरीरों को सर्वथा अलौकिक मानें तब भी निर्वाह नहीं हुआ क्योंकि अलौकिक यह तो एक गोल मोल आशय रखने वाला शब्द है, इस के अर्थ तो यही हुए कि जो लोक की वस्तु न हो उसको अलौकिक कहते हैं पर प्रश्न तो फिर भी वैसा ही रहा कि अवतारों के शरीर किस वस्तु के हैं ? निर्विशेष वादी इस प्रश्न को यों उठाते हैं कि अवतारों के शरीर भौतिक हैं वा अभौतिक ? स्वकर्म्मार्जित हैं वा परकर्म्मार्जित ? मायिक हैं वा अमायिक ? यह छः विकल्प हुए।पहली बात भौतिक अर्थात् इन पांच भूतों के बने हुए, कोई कह नहीं सकता, क्योंकि इस पक्ष में और जीवों से विशेषता क्या ?। यदि अभौतिक कहें तो शरीर क्या ?। फिर अपने कर्म्मों से बने हुए हैं वा दूसरे लोगों के कर्म्मों से? अपने कर्म्मों से तो कह नहीं सकते क्योंकि ईश्वर कर्म्मफलभोक्ता नहीं। यदि पर पुरुषों के कर्मों से ईश्वर का शरीर मानें तो जिसको पराए पुरुषों के कर्म बन्धन में डाल सकते हैं

वह ईश्वर ही क्या ?। फिर ये दो विकल्प और रहते हैं कि अवतारों के शरीर माया के है वा नहीं? यदि माया के मानें तब भी ईश्वर का अलौकिक शरीर सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि हम यहां अवतारवादियों से यह अवश्य पूछेंगे कि माया आप किसे कहते हैं? उपनिषत्कारों के मत में माया नाम प्रकृति का है, इस निर्वचन को कई एक स्थानों में शङ्कराचार्य्य जी ने भी शङ्करभाष्य में माना है जैसे **"मायान्तुप्रकृतिं विद्धि मायिनन्तु महेश्वरम्"**? ।४ ।९ के भाष्य में देखो, इस निर्वचन से हमारे तुम्हारे सम ईश्वर का शरीर भी प्रकृति का ही सिद्ध हुआ और प्राकृत शरीर से जन्म मरणादि भाव कोई हटा नहीं सकता, यदि माया के अर्थ वह मानेजायं जो स्वामी रामानुज ने गीता के अ० ४ श्लो० ६ के भाष्य में किये हैं कि माया नाम ज्ञान का है सो ज्ञान का शरीर असम्भव है यही निर्वचन निरुक्तकार ने भी माना है **"मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते अनया पदार्था इति माया"** निघण्टु अध्याय ९। **प्रज्ञानंनाम अनादिभावरूपत्वेसति ज्ञाननिवर्त्तत्वम्** इस माया अर्थ कोमानें तब भी वादी का मायावी शरीर मानना उलटा हो जाता है क्योंकि ज्ञान से निवृत्त होने से वह शरीर रज्जु सर्पादिकों के सम प्रातिभासिक हुआ।

हम यहां वादी को स्वामी शङ्कर ने जो गीता भाष्य में माया के अर्थ माने हैं उन्हीं में पकड़ते हैं। अवतार वादियों की अवतार सिद्धि का यह मुख्य श्लोक है। गी० अ० ४।६ **"अजोऽपि सन्नव्यात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया"** इस श्लोक के भाष्य में स्वामी शङ्कर माया के यह अर्थ करते हैं कि **"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय वशी-**

कृत्य संभवामि देहवानिवभवामि जातइवात्ममा-यया न परमार्थतो लोकवत्" आनन्दगिरि स्वामी शङ्कर के शिष्य उक्त भाष्य के यह अर्थ वर्णन करते हैं कि "आवृतज्ञानवतो लोकस्य जन्मादिविषये परमार्थत्वाभिमानः सम्भवतीत्याह लोकवदिति"

अर्थ—अज्ञान से ढके हुए ज्ञान वाले लोक के जनों को अपने २ जन्मों में परमार्थ सच्चाई का अभिमान होता है वह ईश्वर को नहीं होता अर्थात् ईश्वर अपने ज्ञान से अपने शरीर को प्रातिभासिक समझता है यह और लोगों से विशेषता है इस कथन से भी ज्ञानी पुरुषों से ईश्वर का कोई निरालापन नहीं पाया जाता। क्योंकि ज्ञानी भी अपने शरीर में अभिमान कर उसे नित्य नहीं समझते। अस्तु, ज्ञानियों से ईश्वर की यहां कोई विशेषता हो वा न हो इस प्रकरण में इसका मुख्य प्रयोजन नहीं। मुख्य प्रयोजन तो यह है कि माया के अर्थ यहां परमार्थ के हैं अर्थात् प्रातिभासिक के हैं केवल भ्रममात्र के हैं यदि ऐसा शरीर ईश्वर का वादी को अभिमत है तो उसी को शोभित हो यह अपरमार्थ शरीर जगत् का क्या कल्याण करेगा, यदि यहां कोई यहशङ्का उठावे कि अपरमार्थ हो वा कैसा ही हो पर यहां शङ्कराचार्य्य ने ईश्वर का शरीर तो मान लिया इसको उत्तर यह है कि हम यह कब कहते हैं कि स्वामी शङ्कराचार्य्य सर्वथा सब स्थलों में हमारे मन्तव्यों को मानते हैं हमतो यह कहते हैं कि बहुत जगह स्वामी शङ्कर अवतार वाद को नहीं मानते जैसा कि हम पूर्व लिख आए हैं यदि कहीं २ पौराणिक प्रभाव में आकर मानते भी हैं तो उससे अवतारवादियों का कुछ सिद्ध नहीं होता क्योंकि वे अपनी वेदान्त फिलासफी के ढंग का ही अवतार मानते हैं जो स्वयं कल्पित है मृगतृष्णा के सम झूठा है ऐसा अवतारवाद वादी

को क्या तारेगा? अस्तु, तारे या डुबोवे हमें क्या? पूर्व प्रकृत से यहांफल यह है कि पूर्वकृत छः विकल्पों से जो ईश्वर के शरीर निरूपण की असिद्धि कही गई है उसको शङ्करादि मुख्याचार्य्यों ने भी सिद्ध नहीं किया, और न पं० आम्बिकादत्त के सम ईश्वर के शरीर को अलौकिक माना। हम दृढ़प्रतिज्ञा से कहते हैं कि आज कल के अवतारवादियों की तो गणना ही क्या कोई तार्किक भी ईश्वर का शरीर तर्क से निरूपण नहीं करसकता, और वेद से तो हम तृतीय समुल्लास में ही ईश्वर के शरीर धारण का निषेध स्पष्ट कर चुके हैं फिर क्या जाने इन अवतारवादियों को वाद करने की क्या वादी पड़ी है जो वैदिक मन्तव्यों को छोड़ मन घड़त नए २ मन्तव्य घड़ते जाते हैं और स्वमुख से उनको वैदिक बतलाते हैं अतएव हम इस पौराणिक मन्तव्य निरास में पं० ज्वालाप्रसाद कल्पित मन्तव्यों का समीक्षण करते हैं ।

इति तर्क निरीक्षणंनाम चतुर्थः समुल्लासः समाप्तः

अथ पौराणिकमन्तव्यनिरासोनाम पञ्चमःसमुल्लासः प्रारभ्यते ।

(१) ईश्वर, जिसके अनन्त नाम हैं वह निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, निराकार साकार है। अनेकविध अवतार धारण करता है सच्चिदानन्दरूप, तर्करहित, उसकी महिमा वेदादिशास्त्रों से जानी जाती है, इसका भेद मनुष्य नहीं जान सकते ॥

समीक्षा—इस प्रथम मन्तव्य में ईश्वर को निराकार और साकार माना है, यह कथन वेद, शास्त्र और तर्क से सर्वथा विरुद्ध है"**सर्वे निमेषाजज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि नैनांमूर्द्धन्नतिर्यञ्चंन मध्ये परि जग्रभत्** ॥ य० ३२ । २ इत्यादि वेद बिरुद्ध है **" न स्थानतोप्यस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि "** ३ । २ । ११ वेदान्त सूत्र। किसी स्थान में प्राप्त होने से परमात्मा **साकार निराकार दो विरुद्ध धर्मों वाला नहीं हो सक्ता** इत्यादि शास्त्र विरुद्ध है, यह हम मिथ्यार्थसमीक्षण में दिखला आए हैं कि एक ब्रह्म स्थिति गति के सम विरुद्ध धर्म्म वाला नहीं हो सक्ता इसी आशय से स्वामी शङ्कर ने ब्रह्म के जगदाकार रूप को कल्पित माना है। जब एवं सब आचार्य्य अपने२ मत के मन्तव्यों का परिशोधन करगए हैं तब यह आधुनिक धर्मावलम्बी क्यों चुप हैं? जो यह नहीं बतलाते कि निराकार और साकार रूप में से पक्षमार्थ कौन है?

आगे लिखा है कि अनेक विध अवतार धारण करता है।

समीक्षा—फिर अवतार धारण से प्रथम तो निराकार ही हुआ, **अवतारधारण का निषेध हम पूर्ण रीति से चतुर्थसमुल्लास में कर आए हैं** और जो यह लिखा है कि उसका भेद मनुष्य नहीं जानता तो आपतो जानते हैं? जो ईश्वर के नानाविध अवतार धारण की शक्ति का भेद वर्णन करते हैं इस हिसाब आप को क्या समझें ॥ ?

(२) वेदमंत्र और ब्राह्मण दोनों भागों का नाम वेद है। दोनों अंगअंगी होने से निर्भ्रान्त प्रमाण हैं क्योंकि इन ग्रंथों में से एक अलग करें तो यह भाग कहे जाते हैं, जैसे "मत्र भाग" "ब्राह्मणभाग" इस कारण दोनों का नाम वेद है। दोनों ही स्वतः प्रमाण हैं॥

समीक्षा—वेद और ब्राह्मण दोनों स्वतः प्रामण हैं। यह वेद विषय में पौराणिक मन्तव्य है, यहां प्रष्टव्य यह है कि वेदों की इयत्ता तो चारों संहिताओं के ग्रन्थन से सर्व सम्मत है एवं उचित था कि आप ब्राह्मणों की इयत्ता भी बतलाते, पर सो क्यों ? आपको तो भविष्य पुराण के सम वेदों का बढ़ना ही इष्ट है अन्यथा गणेशोपनिषदादि सब अल्लम गल्लम कैसे वेदसिद्ध हो सकता था। पर यहां यह स्मरण रखने की बात है कि जब आप इस श्वेताश्वतरोपनिषद् के वचन से "**यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोतितस्मै**" यह मानते हैं कि प्रथम ईश्वर से ब्रह्माजी को ही वेद मिले थे तो क्या ब्राह्मण ग्रन्थ भी उसी समय ब्रह्मा जी को मिले? क्योंकि आप के मत में तो उक्त ग्रंथ भी वेद हैं यदि स्वीकार करो कि उसी समय सब ब्राह्मण ग्रंथ भी वेद होने से ब्रह्माजी को मिले तो फिर आदि सृष्टि में जनकादिकों की कथाएं तुम्हारे माने हुए ब्राह्मण ग्रंथरूप

वेदों में कौन लिख गया ? यदि यह उत्तर दिया जाय कि भविष्यत् का ध्यान धर के भविष्य पुराण के सम लिखी गई तो एवं संहिता में भविष्यत् का ध्यान धर के लिखी जातीं तो आप के मन्तव्यों में हेरा फेरी कर के राम कृष्ण जो शब्द वेदों में सायणादिकों के मत में अन्धेरे वा कालेपन के लिये आए हैं उनके अर्थ परिवर्तन करने की आपको आवश्यकता न रहती, और नहीं रामतापनी आदि उपनिषदें बनाकर रामावतार वेद में प्रवेश करना पड़ता, और" **यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्**"यह लेख तुम्हारे मत में ब्रह्मा पर वेद प्रकट होना सिद्ध नहीं करता क्योंकि ब्रह्मा से उक्त वाक्य में तात्पर्य्य हिरण्यगर्भ का है जो पौराणिक परिभाषा में छोटा ईश्वर है, और ब्रह्मा विष्णु महेश इस मूर्त्तित्रय से भिन्न है, जिस को सूत्रात्मा भी कहते हैं उस का सूक्ष्म प्रकृति ही शरीर है और कोई भिन्न शरीर नहीं। देखो शङ्करभाष्य पृ० ३४१ "**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । इति च श्रुतेः । या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परमापरप्रतिष्ठा । सेह महानात्मेत्युच्यते**" अर्थ— जो हिरण्यगर्भ की बुद्धि है वह सब बुद्धियों से बड़ी है उसका "**बुद्धेरात्मा महान् परः**„ इस वाक्य में कथन है इस प्रकार यहां शरीरी ब्रह्मा की बुद्धि का कथन नहीं किन्तु हिरण्यगर्भ की बुद्धि का कथन है एवं शङ्कराचार्य्य ने भी उक्त उपनिषद् वाक्य के अर्थ ब्रह्मा पर उतरने के नहीं माने, उक्त वाक्य के वास्तव में यही अर्थ हैं कि जिस परमात्मा ने इस ब्रह्माण्ड को पैदा किया और जिसने ब्रह्माण्ड के मनुष्यों को वेदोंका ज्ञान दिया फिर इस वाक्य से ब्रह्मा को वेद देना कैसे सिद्ध हो सकता है? ।

और वादी ने भी "**हिरण्यगर्भ जनयामास पूर्वम्**" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मा के अर्थ हिरण्यगर्भ के स्वीकार किये हैं। फिर चतुर्मुख ब्रह्मा चार वेद वक्ता कहां रहा, एवं मीमांसा करने से दूसरा मन्तव्य वादी का सर्वथा असङ्गत है॥

(३) धर्म, जिसकी वेदादि शास्त्रों में विधि है वह धर्म, और जिसका निषेध है वह अधर्म है और जो मनुष्यों ने अपनी ओर से कल्पना कर लिया है वह धर्म नहीं॥

समीक्षा—जिसकी वेदादि शास्त्र में विधि है उसको आप ने धर्म कहा है, यहां परीक्षणीय यह है कि स्वतः प्रमाण तो आप केवल वेद ब्राह्मण को ही मानते हैं फिर वेदादि शास्त्र कथन की क्या आवश्यकता थी? क्या आपको वेद और ब्राह्मण दोनों मिला कर इतना महदाकार वेद बनाकर भी उस शास्त्र की आवश्यकता बनीही रही? जिसमें आपकी मूर्त्तिपूजादि धर्मों की विधि हो "जिसकी वेदादि शास्त्रों में विधि हो वह धर्म है" यह धर्म का लक्षण करले तो यह स्पष्ट कर दिया कि वेदों में आपके मूर्त्तिपूजादि धर्मों की विधि नहीं "**कुर्य्यात्, क्रियेत्, कर्त्तव्यं, भवेत्, स्यादिति पञ्चभञ्**" ऐसा करें, करा जाय, करना चाहिये, "**एवं भवेत्**" यह ऐसे हो, स्यात्, हो इस प्रकार के विधान जिसमें पाये जायं उसको विधि कहते हैं, ऐसे विधान मूर्त्तिपूजा विषय में आपको वेद में नहीं मिलते, इसी लिये धर्म के लक्षण **वेदादिशास्त्रप्रतिपाद्यो धर्म्मः** यह कथन करना पड़ा॥

(४) जीव, जो कर्मबन्धन से युक्त है, वह जीव कर्म बन्धन छूटने से आत्मा की जीव संज्ञा नहीं रहती।

समीक्षा—यदि कर्मबन्धन छूटने से आत्माकी जीव संज्ञा नहीं रहती तो "**अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्यनामरूपे व्याकर-**

वाणि " इस उपनिषद् में आत्मा को जीव क्यों कहागया है और आपके मन्तव्य में यह उस समय का वाक्य है जब शुद्ध ब्रह्म का प्रवेश माना गया है, जिससे यह सिद्ध किया जाता है कि जीवरूप से ब्रह्मही प्रवेश हुआ, और इसी हेतु से जीव को ब्रह्मस्वरूप बतलाया जाता है। इसी सिद्धान्त की छाया लेकर आपने भी जीव को ब्रह्म बनाया है फिर बतलाएं कि प्रवेशावस्था में शुद्धात्मा को सर्वथा कर्मबन्धनरहित को जीव क्यों कथन किया गया ? यदि इस बात में सन्देह हो कि शुद्धात्मा की जीव संज्ञा स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने नहीं मानी तो देखो शङ्कर-भाष्य पृ० ३९२–१ । ४ । ३२ भाष्य " **अस्यैव परमात्मनो-ऽनेनापि, विज्ञानात्मभावेनावस्थादुपपन्नमिदमभेदेनोपक्रमणमिति, काशकृत्स्नाचार्य्यो मन्यते तथा च ब्राह्मणम्, अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्येवं जातीयकम्** " अर्थ–इसी परमात्मा की ही जीवरूप से स्थिति पाई जाने से जीव ब्रह्म का अभेद कथन करना सिद्ध है इस अर्थ में "**अनेन जीवनानु प्रविश्य**" यह ब्राह्मण प्रमाण दिया है कि परमात्मा ही जीवरूप से प्रविष्ट हुआ। यदि यह कहाजाय कि यह तो एक आचार्य्य का मत है। इसका उत्तर यह है कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इसी मत को श्रुत्यनुसारी माना है "**तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति**" अब बोलिये आपके मत में शुद्धात्मा की यदि जीव संज्ञा न थी तो जिसको आप इस छठे मन्तव्य में मानते हैं कि अनादि पदार्थ एक ही है तो उस समय शुद्ध से भिन्न जीव कौन से खजाने से निकाला ?

(५) जब यथार्थ ज्ञान होता है तब जीव ईश्वरका भेद मिट जाता है ॥

समीक्षा--जब यथार्थ ज्ञान से जीव ईश्वर का भेद मिट जाता है।

तो सारांश यह निकला कि आप भेद को अज्ञानकृत मानते हैं, परिणाम यह हुआ कि अयथार्थ ज्ञान से भेद की कल्पना हुई थी सो यथार्थ ज्ञान से मिट गई तो पहिले अयथार्थ ज्ञान आपके एक ब्रह्म में कहां से आया ? और दूसरी बात यह है कि भेद मिथ्या है इसका कोई भी प्रमाण सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र में नहीं ॥

(६) अनादि एक ईश्वर है उसके अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् प्रकृति सहित उत्पन्न होता है ॥

समीक्षा—इसमें जो वादी ने एक ब्रह्म को ही अनादि माना है यह "**द्वासुपर्णा सयुजा सखाया**" **ऋ० मं०१ सू०१६४ मं०** २० इत्यादि वेद मंत्र से विरुद्ध है। इस विषय में गीता का विरोध हम पूर्व भी लिख चुके हैं और इस षष्ठ मन्तव्य में वादी नें जीवात्मा की उत्पत्ति मान कर स्वमन्तव्य को शास्त्रमर्य्यादा से सर्वथा बाहर कर दिया। देखो आत्माधिकरण वेदान्त सू० २। ३। १८। इस सूत्र में जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं मानी, इसमें यह सिद्ध किया है कि श्रुतियों में जीवात्मा अजन्मा माना गया है "**अजोनित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे**" "**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः**" इत्यादि उपनिषद्वचनों में जीवात्मा की उत्पत्ति का निषेध किया है। इस अर्थ को गीता में इसी प्रकार ग्रन्थन किया है। स्वामी शङ्कराचार्य्य स्वामी रामानुजाचार्य्य भी यहां यही मानते हैं कि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता, फिर क्या जाने इस नए फिलासोफर सनातन धर्मी ने जीवात्मा की उत्पत्ति कहां से निकाली ?॥

(७) सृष्टि, जो ईश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से रचता है वही उसकी सृष्टि है और वह सृष्टि विविध प्रकार के द्रव्यों का मेल कर्मों का मेल

ईश्वर की रचना का चमत्कार है। इन सबका कर्त्ता ईश्वर है इस कारण यह सृष्टि सकर्तृक कही जाती है ॥

समीक्षा—इस सातवें मन्तव्य में जो वादी ने सृष्टि का लक्षण किया है सो हमें स्वीकार है । हमें पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के सम यह पक्षपात नहीं कि सत्य को भी असत्य ही कहैं जैसे इन्हों ने आर्य्य समाज के नियम समीक्षा में किया है "संसार की उन्नति करना आर्य्य समाज का मुख्य उद्देश है" इसकी समीक्षा में आप यों कहते हैं कि आप ने तो ईश्वर को सर्वाधार सर्वेश्वर जान उपासना की है। फिर संसारकी उन्नति में हस्तक्षेप करना उपास्य की बराबरी करना है। धन्य है! समीक्षक और अपूर्व है यह समीक्षा! क्या समीक्षक अल्पेश्वर जानकर उपासना किया करता है जो उसे पुस्तकादि लिख कर संसारोन्नति वा स्वधर्मोन्नति करनी पडती है ? । हम तो यहां यह कहेंगे कि आर्य्य-समाज के प्रकाश से समीक्षक को ऐसी बातें सूझी तो पुस्तक लिखकर अपना तथा देश का उद्धार समझा, वरन अपने कलियुगी अवतार निष्कलङ्क के शिर सब बोझ देकर समीक्षक सो रहता ॥

(८) बन्धन, कर्मों के विद्यमान रहने से होता है चाहे अच्छे हों या बुरे क्योंकि दोनों का फल पराधीन हो भोगना पड़ता है ॥

समीक्षा—जब आप कर्मों के विद्यमान होने से ही बन्धन मानते हैं तो वह कर्म्म बन्धन के हेतु कहां से आये? आप तो अपने छठे मन्तव्य में एक ब्रह्म ही अनादि मान आये हैं ॥

(९) मुक्ति, सम्पूर्ण कर्म्म और वासनाओं के क्षय होने से मुक्ति होती है, जिसको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता ।

समीक्षा—"वासनाओं के क्षय होने से मुक्ति होती है" यह क्या यहां आकर अपने मन्तव्य से क्यों पतित होते हो? तुम्हारे मत में तो

भेद ज्ञान निवृत्ति से मुक्ति होनी चाहिये, जैसा पांचवें मन्तव्य में मान आये हो।यदि वासना के क्षय से मुक्ति मानोगे तो वासना तो कर्म्म से क्षय होती है और कर्म्म जन्य मुक्ति मानोगे तो नित्य न रहेगी, फिर समझ सोच कर कहो। वासनाक्षय से मुक्ति मानना समुच्चयवादी का मत है, तुम्हारा नहीं। दार्शनिक बातों में विना सोचे समझे बढ़ना तुम्हारे लिये ठीक नहीं, यह मूर्त्तिपूजादि खण्डन की समीक्षा नहीं जो अन्धाधुन्द ही लिख मारें।

(१०) मुक्ति के साधन, वेदान्त विचार, उपासना, ध्यान योगाभ्यासादि ।

समीक्षा—मुक्ति के साधनों में तो वादी ने अपने आधुनिक वेदान्त मार्ग को सर्वथा ही परित्याग कर दिया, जो उपासना, ध्यान, योगाभ्यासादिकों को ही मुक्ति का साधन मान लिया । यदि यह कहा जाय कि अंतरङ्ग साधन वेदान्तविचार मानलेंगे, वह भी तो हम लिख आये हैं । यही तो हम कहते हैं कि वादी को इस विषय की सूझी नहीं, अभेदज्ञान से मुक्ति मानने वालों के मत में श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि वेदान्त विचार भी बहिरङ्ग साधन हैं। अन्तरङ्ग तो "**अहं ब्रह्मास्मि**" इत्याकारक अपरोक्ष ब्रह्मात्मक ज्ञान ही है । वह ज्ञान पापक्षय से होता है, एवं परंपरा से कर्म भी अभेदवादियों के मत में मुक्ति का मुख्य साधन जो अभेदज्ञान उसकी उत्पत्ति में सहायक हैं, एवं योगाभ्यासादि कर्म्म मुक्ति के साक्षात् साधन नहीं, यह सिद्धान्त है । फिर यहां मैं "ब्रह्म हूं" इतना बड़ा ज्ञान क्यों छिपा लिया ? और योगाभ्यासादिकों का लालच क्यों दिया ? किसका डर था ? साफ़ कहना था कि हमारी मुक्ति कोई साध्य वस्तु नहीं, नित्य प्राप्त है, दुराचारी से दुराचारी को भी प्राप्त है, केवल अप्राप्ति की भूल है । हाथ के कंकणके सम केवल भूल दूर करनी है वह भूल ज्ञान से दूर होती है, कर्म से

कदापि नहीं । देखो शङ्करभाष्य चतुःसूत्री । फिर अपने आचार्य्यों से विमुख होकर मुक्ति में भक्त क्यों बनते हो, ज्ञानी क्यों नहीं बनते? ॥

११ और १२ मन्तव्य ठीक हैं ॥

(१३) वर्ण, जन्म से होता है कर्म से नहीं ।

समीक्षा—इस में वादी ने यह स्पष्ट नहीं लिखा कि जन्म में क्षेत्र प्रधान माना जायगा वा वीर्य्य ? यदि क्षेत्र प्रधान होने से वर्णव्यवस्था स्थिर की जाय तो अष्टादश पुराण के कर्त्ता आप के व्यासजी क्या माने जावेंगे? ।

यदि वीर्य्य से जन्म माना जाय तो पाण्डु धृतराष्ट्रादि क्षत्रिय कैसे ? इस मन्तव्य से व्यवस्था स्थिर रखनी हो तो महाभारत को जलाञ्जलि दो, जिसमें सहस्रों आदमी ब्राह्मणों के वीर्य्य से क्षत्रिय हुए* एवं स-

---

*एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा ।
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥
आ० प० अ० १०४ श्लो० ५

अर्थ---इस प्रकार जब परशुराम ने भारतवर्ष को क्षत्रिय रहित कर दिया फिर वेदवेत्ता ब्राह्मणों ने नियोग से क्षत्रिय पैदा किये । इस से यह पाया जाता है कि ब्राह्मणों के वीर्य्य से क्षत्रिय पैदा हुए फिर जन्म से वर्णव्यवस्था कैसे स्थिर रही? यदि यह माना जाय कि क्षेत्र प्रधान वर्णव्यवस्था है तो व्यासादिक ब्राह्मण कैसे रहे क्योंकि वहां तो वीर्य्य के प्रधानत्व से ही ब्राह्मणत्व स्थापन किया जाता है । सार यह है कि इस प्रकार समीक्षा करने से वीर्य्य तथा क्षेत्र दोनों प्रकार से पौराणिकों की वर्णव्यवस्था ठीक नहीं रहती । क्योंकि इस बात की कलई पुराणों में भले प्रकार खोलदी गई है कि सैकड़ों शूद्र जाति की स्त्रियों में ब्राह्मणों के वीर्य्य से ब्राह्मण हुए हैं और सहस्रों क्षत्रिय जाति की स्त्रियों में ब्राह्मणों के वीर्य्य से क्षत्रिय हुए हैं ॥

हस्तों आप के माने हुए क्षेत्राभाव से भी ब्राह्मण हुए। अब कोई नया शास्त्र बनाओ तो काम चलेगा अन्यथा नहीं ॥

(१४) देवता, मनुष्यभिन्न देवलोकादि में रहने वाले हैं और असुर राक्षस पिशाच भी पृथक् जाति हैं।

समीक्षा — यदि देवता आपके देवलोक में ही रहते हैं तो आप के परमेश्वर ने उनकी रक्षा के लिये कि एक मनुष्य अवतार क्यों धारण किये ? उस देवलोक में देव योनि में ही अवतार लेना था फिर भारत में अवतार का क्या काम था ? यहां तो " **द्वौभूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैवआसुर एव च** " १६ । ६ इत्यादि गीता के श्लोकों को भूल गए जिन में इस लोक में देव और असुर दो प्रकार की सृष्टि कृष्णजी ने मनुष्यों में मानी है और आपने देवताओं को देवलोक में ही माना। अस्तु, गीता की दैवी आसुरी सृष्टि को जाने दो, पर यह तो बतलाया होता कि देवासुर दो प्रकार की सृष्टि में से मनुष्य कौन सृष्टि हुई ? । आप तो अग्निर्देवता इत्यादि के मानने वाले हैं फिर आप के देवता देव लोक में कैसे? लो इसे भी जाने दो, अग्नि देव लोक का पदार्थ ही सही, पर यह पृथिवी जिस पर आप दिन रात पैर रखते हैं, आप के मत में यह तो जीता जागता देवता है, विपत्ति पड़ने पर गोरूप धारण कर परमेश्वर के पास जाती है, आवश्यकता पड़ने पर वराह भगवान् जी से वराह पुराण द्वारा वर्णाश्रम धर्म्म श्रवण करती है। यदि इस को भी आप ने कहीं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति के लिये देवलोक में भेज दिया तो फिर वराहावतार की आवश्यकता आन पड़ेगी और जहां २ देवासुर संग्राम होता रहा है वहां २ मानव सृष्टि के लोगों की गणना पाई जाती है। जैसे

विश्वामित्र भरद्वाजादि, तो क्या ये देवता न थे ? और असुर के अर्थ तो यही हैं कि जो " सुर " देव न हो, फिर आप ने असुर अलौकिक जाति कहां से घड़ली ! यदि यह किसी समय में दोनों जाति विशेष ही थीं तो अब किस के डर से भारतवर्ष त्याग गईं, इतने पक्षपाती क्यों बनते हो? जो सब जगह स्वामी से उलटा मानना ही इष्ट मानते हो, देखो उपनिषद् प्रमाण, " **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव**"यदि देवता देवलोक में ही थे तो यहां माता आदिकों को "**देव**" क्यों माना गया ? ॥

(१५) पूजा—देवता, अतिथि, माता, पिता और ईश्वर की करनी योग्य है ईश्वर और देवताओं की पूजा मूर्त्तियों में करनी योग्य है ॥

समीक्षा—भला इस में इतना तो माना कि माता पिता और अतिथि की भी पूजा होती है जो यह कहा कि देवता और ईश्वर की पूजा मूर्ति में ही करनी योग्य है। अस्तु, इसी योग्यता से चलें, पर इसका क्या कीजियेगा जो आठ वसुओं में अमूर्त्त देव हैं उन की पूजा कैसे हो सकेगी? और जो अमूर्त्त ब्रह्मरूप से वायु और अन्तरिक्ष दो देवता अमूर्त्त माने गए हैं उन की उपासना कैसे होगी ? और तुम्हारे इस मूर्तिपूजक धर्म में यह भी दोष आवेगा कि "**आत्मा वारे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" इत्यादि ईश्वरोपासना पूजा न कहलायेगी क्योंकि उक्तवाक्यबोधितोपासना किसी ईश्वराचार्य्य के मत में भी मूर्त्ति में नहीं की जाती ॥

और आत्मत्वोपासनाधिकरण में जो अन्य देवताओं की उपासना का निषेध किया गया है जैसे " **अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योसौऽन्योहमिति न स वेद** " इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मभिन्न देवताओं की उपासना का निषेध कर आत्मोपासना अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना भी तुम्हारे मत में उपासना

न कहलावेगी। बहुत क्या? यदि मूर्त्ति में ही उपासना को आप ईश्वर उपासना तथा ईश्वर पूजा मानेंगे तो सब आध्यात्मिक शास्त्र का परित्याग करना पड़ेगा।

(१६) पुराण, वे ग्रन्थ हैं जो ऐतरेय, शतपथ, इतिहास, कल्प, गाथा, आदि से भिन्न हैं और प्राचीन हैं, जिन्हें व्यास जी ने संग्रह कर भागवतादि नाम से प्रसिद्ध किया है।

समीक्षा— इस में जो पुराण ग्रन्थ शतपथादि से भिन्न व्यास निर्म्मित भागवतादिकों को ही पुराण माना है तो जो शतपथ में पुराण शब्द आया है जैसे "**इतिहासपुराणसूत्राणि**" इत्यादि यहां पुराण शब्द क्यों आया? क्योंकि व्यासकृत पुराणों का तो उस समय जन्म ही नहीं हुआ था। हम तो यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि आप के भागवत पुराण का नाम शङ्कर भाष्य में भी नहीं आया, जहां भगवद्गीता और महाभारतादिकों का नाम अनेक वार आया है। फिर धन्य है आप की लीला, जो उन्हें प्राचीन ग्रंथ कहते हैं, जिनका जन्म शङ्कर के समय भी * न था॥

(१७) तीर्थ, गंगादि नदी, पुष्करराजादि सरोवर तथा काशी स्थानादि जिन के दर्शन से पाप दूर होते हैं।

समीक्षा-- इसमें आपने तीर्थ जल स्थलादि स्थान विशेष को माना है, फिर उनके दर्शन से पापनिवृत्ति मानी है, परन्तु इसी का खण्डन आपके भागवत पुराण में है कि "**नद्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामया। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः**" जलमय तीर्थ नहीं, न देवता मिट्टी और

*यदि शङ्कर के समय आप का श्रीमद्भागवत होता तो गीता के सम अद्वैतसिद्धि के लिये शंकर अवश्य सहस्रवार उस के वाक्य उद्धृत करते॥

शिलाओं के हैं और यह बहुत देर में पवित्र करते हैं और साधुलोग दर्शन मात्र से पवित्र कर देते हैं। यहां तो साधुओं के दर्शनों से पापनिवृत्ति मानी है तीर्थों से नहीं। यदि यहां वादी यह कहे कि उन से भी तो पापनिवृत्ति मानी है फिर उनमें तीर्थत्व धर्म क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि आपका पुराण ही यह कहता है कि "**नाप्तम्मयानि तीर्थानि**" पानी के तीर्थ नहीं, फिर हम क्या कहें॥

(१८) प्रारब्ध और पुरुषार्थ में प्रारब्ध मुख्य है, प्रारब्ध पुरुषार्थ से सिद्ध होता है॥

समीक्षा--यदि यहां मुख्य से अभिप्राय अवश्य भोक्तव्य का है तो परीक्षणीय नहीं, वरन "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः**" इस वेद मंत्र से विरुद्ध है। इस मंत्र में पुरुषार्थ को ही मुख्य माना है॥

(१९) संस्कार, जन्म से लेकर मरण पर्यन्त १६ हैं। यह कर्त्तव्य हैं और मृतकों के लिये दान श्राद्धादि करना प्रबल वैदिक सिद्धान्त है।

समीक्षा—संस्कार १६ वादी को मन्तव्य हैं फिर यह जो कहा कि "मृतकों के लिये दान श्राद्धादि करना प्रबल वैदिक सिद्धान्त है,, यह कौनसे संस्कार में आया? मनु ने तो आप के इस श्राद्धकर्म को पितृयज्ञ के नाम से लिखा है जिसका उल्लेख नित्य कर्म्मों में है, फिर सोलह संस्कारों में आपने कैसे लिख मारा?।

(२०) यज्ञ, अश्वमेधादि राजों को कर्तव्य हैं, ब्रह्म विचारशील ब्राह्मणों को ब्रह्मयज्ञ कर्त्तव्य है, जिसकी विधि मीमांसा शास्त्र में लिखी है॥

समीक्षा—ब्रह्मयज्ञ की विधि जहां मीमांसा शास्त्र में लिखी है वहां का पता तो देना था। क्या स्वामी दयानन्द जी की बातों ने हृदय भेदन

कर दिया जो ब्रह्मविचारशील ब्राह्मणों के लिये केवल आप ब्रह्मयज्ञ ही मानते हो। आपके मत में पशुमेधादि यज्ञ जो कराए जाते हैं क्या अब उनमें ब्रह्मविचारशील ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं रही? जो सारा बोझ राजाओं के शिर धर किनारे हो गए? क्या अब आप के अश्वमेधादिकों में जहां असंख्यात पशुओं का वध है उनकी विधि आपके ब्रह्मविचारशील बतलावेंगे अथवा "**नराश्वमेधौ मद्यञ्च कलौवर्ज्याद्विजातिभिः**" ब्रह्मपुराण॥ अर्थ-नरमेध और अश्वमेध कलियुगमें द्विजाति न करें और मद्यपान भी न करे, इस निषेध से डरकर कलियुगी बन मीमांसा के मनमाने ब्रह्मयज्ञ का ओर झुक पड़े यज्ञ की परिभाषा में घबराते क्यों हो! तुम तो ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद मानते हो, पं० भीमसेन के सम भूत भविष्यत् वर्त्तमानी तो नहीं हो, तुम उक्त तीनों कालों में तीन रङ्ग बदलने वाले तो नहीं और न उक्त पं० जी के सम ब्राह्मणों का पशुवध बोधक भाग छोड़कर दूसरे को वेद मानने वाले हो? किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के अनन्य भक्त हो। फिर अश्वमेधादि राजाओं का कर्त्तव्य कह कर ही क्यों भाग चले! अभी तो उस भाग का अधिकारत्व आप का शेष है जिस में यज्ञ शेष के हिस्से बांटने लिखे हैं॥

२१—२२ मन्तव्य में कोई विशेषता नहीं।

(२३) शिष्टाचार व सदाचार जो वृद्धों से चला आता है वह वेदानुसार ही है।

समीक्षा—वृद्धों से चला आने वाला यदि सदाचार स्वीकृत है तो नियोग तो वृद्धों से ही चला आता है फिर अस्वीकार क्यों?।

(२४) प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण हैं।

समीक्षा—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों के मानने वाले आपने असम्भव बातों के भण्डार पुराणों को कैसे माना? जिन में मच्छ के

सींग के साथ पृथ्वी बांध कर प्रलयकालीन रक्षा लिखी है यहां आप का सम्भव प्रमाण किस काम आया ! अथवा आठ की संख्या पूरी करने के लिये ही लिखा था ।

(२५) आप्त, उस को कहते हैं जिस के वाक्य में कभी सन्देह न हो, सदा निश्चित यथार्थ बोले, जिसे अपने वाक्य का बदल न करना पड़े ।

समीक्षा–यदि अपने वाक्य के न बदलने से ही आप्त बनता है तो बहुत दाम्भिक है, जो स्ववाक्य नहीं बदलते और जिसके वाक्य में कभी सन्देह नहो ऐसा कौन वाक्य और कौन आप्त है? आप कह सक्के हैं जिस वाक्य में किसी को सन्देह नहो! पहले स्वमन्तव्य ही देखो, शङ्करवाक्य में रामानुज को सन्देह इस प्रकार शङ्कर आप्त न रहे, रामानुजवाक्यमें शङ्कराचार्य्य के शिष्यों को सन्देह एवं यह आप्त न रहे, आप के वाक्यों में हमें सन्देह तो आप आप्त न रहे।यदि सन्देह करने से आप्तत्व जाता है तो आपके बहुत आप्त उड़ जावेंगे, कपिल, कणाद, पतञ्जलि वाक्यों में शङ्कराचार्य्य को सन्देह ही नहीं प्रत्युत वेदविरुद्ध मानकर उक्त स्वामी उन का खण्डन करते हैं फिर कपिलादि आप्त कैसे रहे ? यदि यह अभिप्रेत है कि यथार्थ ज्ञाता स्ववाक्य में सन्देह न करने वाला स्ववाक्य बदलने वाला, आप्त है तो यथार्थ ज्ञाता कथन करने से ही सन्देह का अभाव कह दिया, फिर सन्देह के अभाव को लक्षण में निवेश क्यों ? और वाक्य तौ दुराग्रही और दाम्भिक-भी नहीं बदलते । यह हम कह आए हैं फिर आप्तका लक्षण क्या रहा ? ।

(२६) पांचप्रकार के वाक्यों से परीक्षा होती है प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण निगम उपनयन, इन्हीं से सबकुछ निश्चय हो जाता है और

वह वाक्य हेत्वाभास रहित विध्यनुसार शास्त्रयुक्त हो।

समीक्षा—परीक्षा लक्षण में तो वादी ऐसा परीक्षित हुआ है कि स्वसिद्धान्त भी छोड़ बैठा, जब उक्त पांच प्रकार के वाक्य से परीक्षा वादी को अभिमत है तो शब्द प्रमाण छोड़ बैठा, क्योंकि शब्द प्रमाण की परीक्षा प्रतिज्ञादि पञ्चावयवों से नहीं की जाती। वह वाक्य शास्त्र युक्त हो। इसके कुछ भी अर्थ नहीं, जब यह पञ्चावयव जो न्याय शास्त्र में माने हैं इन को घटा देगा तो वह शास्त्र युक्त ही होगा, पर ऐसे वाक्य से वेद की परीक्षा आस्तिक लोग नहीं मानते, यहां आकर तो वादी ने संहिता ब्राह्मण दोनों के स्वतस्त्व को परतस्त्व करदिया, और केवल न्यायशास्त्रोक्त पञ्चावयवोपपन्न वाक्य ही स्वतः प्रमाण माना॥

(२७) स्वतन्त्र ईश्वर सदा सब काल में स्वतन्त्र है विपरीत ज्ञान रहित सर्वसामर्थ्य युक्त है, जीव सदा सब काल में परन्तत्र है।

समीक्षा—वादी ने जीव को सर्वथा परतन्त्र माना है व्यास सू० २। ३। ४१ के विरोध का भी विचार नहीं किया कि इस सूत्र में तो जीव की स्वकर्म्म में स्वतन्त्रता मानी गई है इसी कारण पाप पुण्य कर्त्ता जीव कहलाता है पर यह विचार कैसे? यहां तो स्वामी दयानन्दजी की बातों से सर्वथा उलटा चलना ही इष्ट है, चाहें वे बातें सर्वतन्त्रसिद्ध ही क्यों न हों।

शास्त्र का विचार तो तब हो जब इतना ज्ञान हो, पर वादी ने तो यहां यह भी नहीं सोचा कि मैं जो स्वभूमिका पृ० २ में भारत को आलस्य भण्डार कह आया हूं, स्वामी दयानन्द पर एक नया मत चलाने का दोष लगा आया हूं, वह क्यों? जब जीव परतन्त्र है तो बिचारे भारत के आलस्यग्रस्त होने में दोष क्या? एवं स्वामी ने भी

ईश्वराज्ञा से ही प्रचार किया है फिर उनपर रुष्टता क्या ? ॥

(२८) स्वर्ग पृथ्वी के ऊपर लोकविशेष है ॥

समीक्षा—चौरासी सहस्र योजन ऊंचाई वाले सुवर्ण के मेरु पर्वत के शिखर पर स्वर्ग है एवं पौराणिकों ने तो स्वर्ग लोक की बहुत विशेषताएं वर्णन की हैं वादी तो केवल लोक विशेष कह कर ही रह गया क्यों रहे, सनातन समय में सनातनियों का स्वर्ग स्वर्ण का न था। एक समय स्वर्ग में अप्सराओं का नाच हो रहा था उसको देखकर अग्नि देवता का वीर्यपात हो गया लज्जा के मारे अग्नि ने स्वत्रस्त्र में ही ढक लिया, जब वस्त्र झाड़ डाला तौ बीच से गिर पड़ा गिरते ही स्वर्ण होगया और पड़ा पड़ा बढ़ गया। उससे फिर सुमेरु पहाड़ बना जिस पर अब का आधुनिक स्वर्ग है। यह ब्रह्मवैवर्त्त पुराण श्रीकृष्ण जन्म खण्ड १३१। ३३। ३७ में है। अब ऐसे स्वर्ग के विशेष वर्णन में चुप न रहें तो और क्या करें ? ॥

(२९) नरक, स्थान विशेष जिस में केवल दुःख ही होता है, यमराज की यातना भोगनी पड़ती है।

समीक्षा—नरक केवल दुःख स्थान ही है और वहां का राजा यम है। यह अनृत कथा नासिकेत के अनुकूल मानने वाला वादी कठोपनिषद्कार का क्या उत्तर देगा कि यदि वहां दुःख ही दुःख था तो नाचिकेता को यह दुःख वहां क्यों नहीं हुआ? यदि कहा जाय कि नचिकेता वहां गया ही नहीं, यह केवल अलङ्कार मात्र है तो आपका नरक लोक विशेष है यह अलङ्कार मात्र क्यों नहीं ? वादी के मन्तव्य ग्रन्थों में भी कर्म्मों का फल रूप नरक इसी लोक में वर्णन किया गया है। देखो गीता—**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं**

त्यजेत्'' काम क्रोध लोभात्मक यह तीनों प्रकार का नरक का दरवाजा है, इस से तो यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य के कर्म्मों से यहां ही नरक स्वर्ग है। यदि वादी यह कहे कि यह गीता का श्लोक उपचार से नरक कहता है मुख्य नरक लोक विशेष ही है तो हम यहां यह पूछेंगे कि गीता उपचार है तो क्या वह पुराणों का नरक कौन सत्य का भण्डार है जिस में गरुड़ पुराण की असम्भव गप्पें ही हैं ? ॥

(३०) मन्तव्य कोई विशेष समीक्षणीय नहीं ॥

(३१) नियोग करना वेदाज्ञा नहीं, स्त्रियों को एक पति के विना दूसरा पति कभी कर्तव्य नहीं।

समीक्षा—यदि नियोग वेदाज्ञा न होती तो महर्षि व्यास जी जैसे सदाचारी क्यों करते। देखो महाभारत आदिपर्व*यहां कहां मुख

---

* इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ? ॥
तयोरुत्पादयापत्यं सन्तानाय कुलस्य नः।
मन्नियोगान्महाबाहो ! धर्मकर्त्तुमिहार्हसि ॥
आदि प० अ० १०३ श्लो० ९।१०

अर्थ- सत्यवती ने भीष्म पितामह को यह कहा कि हे भीष्म ! ये दोनों रानियें आपके विचित्रवीर्य्य भाई की हैं और काशीराज की कन्यायें हैं। रूप यौवन से सम्पन्न हैं और पुत्र की कामनावाली हैं। हमारे कुल की वृद्धि के लिये इन में तुम सन्तान पैदा करो, मेरी आज्ञा से तुम इस धर्म को करो।

विचित्रवीर्य्य के मर जाने पर सत्यवती ने भीष्मपितामह को यह उपदेश किया और इस नियोग की प्रणाली को धर्म कहा। इस प्रकरण में सहस्त्रों श्लोक हैं जिन में नियोग का विधान है ॥

छिपाओगे? यहां तो बहुत स्पष्ट रीति से लिखा हुआ है। एक महाभारत क्या देखो याज्ञवल्क्य और मनु ॥

यहां केवल स्वामी दयानन्द जी को बुरा भला कहने से काम कदापि नहीं चलेगा, यहां शास्त्रमर्य्यादा से चलना होगा, केवल मन माने ग्रंथ रचकर नियोग का विधान आप स्वमन्तव्य पुस्तकों से कदापि नहीं दिखला सक्ते।

३२, ३३ में कुछ विशेष नहीं॥

(३४) उपासना, मूर्त्ति में ईश्वर का अर्चन वन्दन करना, यही उपासना कहाती है।

वाह रे पक्षपात!! पक्षपात होतो ऐसाही हो कि वेदशास्त्रोपनिषद् सब एक ओर हों सो हों पर आपको दूसरी ओर ही पक्षपात का पक्षी होकर उड़ना चाहिये, एवं वादी इस स्वसिद्धान्त में इतना आग्रह कर के कहता है कि "**मूर्त्ति में ईश्वर का अर्चन वन्दन करना यही उपासना कहाती है**" फिर आगे जाकर मन्तव्य ३५ में प्रार्थना और स्तुति निर्गुण की भी मानी है पर कब सम्भव था कि आग्रह को छोड़कर उपासना भी निर्गुण सगुण दोनों प्रकार की मान लेते। अस्तु, मानते वा न मानते यह तो इनके घर की बात है, परयहां इतना तो वादी को अवश्य ध्यान देना चाहिये था कि जिन२ निराकारोपासना के वेद मंत्रों में और उपनिषद् वचनों में "उपास्ति" क्रिया है और उपसना की विधि आती है वहां २ हम केवल मूर्त्ति में ही ईश्वरोपासना मानने वाले क्या उत्तर देंगें?।

हम उन वेद मंत्रों के तथा उपनिषद् वाक्यों के यहां उदाहरण देते हैं जिनमें उपासनाविधायक क्रिया आती है। जैसे "**अस्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः**" बृहदा० उ० नि० इस में

"आत्मा" ईश्वर के साक्षात् के लिये श्रवण मनन निदिध्यासन की विधि है। तथा "**ये प्राणं ब्रह्मोपासते**" इस उपनिषद् में उपासना किया आई है। और व्यास सूत्र पा० १ अ० १ सू० १८ सूत्र से स्पष्ट कर दिया है कि प्राण यहां ब्रह्म का नाम है। "**अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते**" बृहदा० उ० नि० यहां अन्य देवता की उपासना का निषेध करके ब्रह्मोपासना की विधि है। "**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते**" यजु० अ० ४ मं० १२ क्या इत्यादि वेदोपनिषद् वाक्यों में उपासना मूर्त्तिद्वारा विधान की गई है! यदि है तो बतलाएं यहां कौन मूर्त्ति उक्त वाक्यों में वर्णित है।

(३५) सगुण निगुण प्रार्थना स्तुति आदि निराकार परमेश्वर का वर्णन, निर्गुण स्तुति साकारादि अवतार युक्त परमेश्वर का गुण कथन करना पूजन करना सगुण उपासना स्तुति प्रार्थना कहाती है।

समीक्षा—जब इस में वादी यह मानता है कि निराकार परमेश्वर की निर्गुण स्तुति कहाती है, और अवतार युक्त परमेश्वर का गुण कथन करना, पूजन करना सगुणोपासना प्रार्थना कहाती है तो निराकार की उपासना क्यों नहीं कहावेगी।

(३६) भू आदि सप्त लोक ऊर्ध्व और पातालादि सप्तलोक नीचे के हैं, इनमें देवता, राक्षस, पिशाच, मनुष्यादि रहते हैं, सात समुद्र और इनके सिवाय अनन्त लोक हैं।

समीक्षा—यहां वादी ने यह निर्णय नहीं किया कि वे समुद्र किन किन वस्तुओं के हैं। पुराणों के समुद्र लवण, रस, शराब, घी, दूध, मदिरा, इक्षुरसादिकों के सात समुद्र पौराणिकों के घर में ही होंगे, लोक में तो कहीं भी नहीं। यदि हों तो क्या जलयात्रा में एक मात्र सब से अग्रगण्य अंगरेजों को भी न मिलते, दैवगति से मिल जाते तो रेल द्वारा ही दूध की दुर्लभता दूर हो जाती और

शराबियों के शराब निकालने का भी टण्टा जाता रहता, आपके मदिरा के समुद्र सेही भरलाते, और यदि आपका सुवर्ण का मेरु अंग्रेज़ समझते तो तुम्हारे स्वर्गीय जीवों से ही खटाखट खड़कती फिर ट्रांसवाल आदि युद्ध पीछे ही किया जाता ।

(३७) ब्रह्मा इन्द्र शिवादि देवता पूर्ण ऐश्वर्य्य युक्त और गणेश जी देवी आदि सब उपास्य हैं ॥

समीक्षा—ब्रह्मादि देवता यदि पूर्णशक्तियुक्त होते तो ब्रह्मा के नाक से आप के भगवान् को वराह क्यों निकालने पड़े ? ब्रह्मा जी ही हिरण्यकशिपु से पृथिवी क्यों न खोसलाए, आप के शिव की पूर्णशक्ति तो मोहिनीरूप ने ही पूर्ण करदी और गणेश देवी आदि की उपासना आप के शङ्कराचार्य्य जी ने ही खण्डन करदी, और तुम से यह भी न बनपड़ा कि कोई देवी अवतार की सिद्धि का भी वेद से मन्त्र निकालते और "**त्वं स्त्री त्वं पुमानसीत्यादि**" शङ्कर के अहं ब्रह्म सागर में ही पड़कर गोते न खाते ।

(३८) श्राद्ध, जो मृतक पितरों के उद्देश से किया जाता है।

समीक्षा-इस में वादी ने यह माना है कि श्राद्ध वही कहलाता है जो मृतक पितरों के उद्देश से किया जाता है । पितर शब्द तो वादी की सम्मति में जीवित और मृतक दोनों में आता है,इसी अभिप्राय से यहां मृतक शब्द दिया है । जब पितृ शब्द के अर्थ से दोनों प्रकार के पितरों का अर्थलाभ होना वादी अस्वीकार नहीं कर सकता तो फिर कौनसा विशेष हेतु है जिस के कारण वादी मृतकोद्देश्य से किये जाने वाले कर्म्म को ही श्राद्ध कहता है ? ।

यदि यह कहा जाय कि मनु प्रभृति महर्षियों ने पितृयज्ञ से वा पितृश्राद्ध से आशय मृतक पितरों के उद्देश से कर्म्म करना ही लिया है तो इस का उत्तर यह है कि प्रथम तो मनु से मृतक पितरों के उद्देश से ही जो कर्म्म किया जाय उस का नाम श्राद्ध है, यह सिद्ध

नहीं होता क्योंकि मनु में श्राद्ध स्वाध्याय कर्म्म के सम नित्यकर्म मान गया है, जिस से मृतक पितरों का आशय नहीं, किन्तु जीवित पितरों का है। यदि मनु आदिकों में नैमित्तिक श्राद्ध कर्म्म से यह अभिप्राय स्पष्ट भी करलिया जाय कि मृतकोद्देश्य से भी श्राद्धकर्म्म होता है, तब भी वादी का यह आग्रह कदापि सिद्ध नहीं होता कि श्राद्ध कर्म्म मृतक पितरों के ही उद्देश से किया जाता है, क्योंकि जब पितर नाम जीतों का भी है और उनकी श्रद्धा से सेवा करना भी पितृकर्म्म कहलाता है तो फिर कौन कह सकता है कि श्राद्धकर्म्म जीतों का नहीं। प्रत्युत वे लोग जो मृतकों का श्राद्ध नहीं मानते वह ऐसा कह सकते हैं कि श्राद्ध कर्म्म जीते पितरों का ही होता है, मृतकों का नहीं। जिस में प्रमाण निम्न लिखित ऐतरेय उपनिषद् का है कि- **"देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्" *मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव" "यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि,,** तैत्तिरीय शिक्षावल्ली ॥ २ ॥

अर्थ-वेदका अध्यापन कराके शिष्य को आचार्य्य यह उपदेश करता है-विद्वानों का सेवनरूप देवयज्ञ, माता पिताआदिकों की सेवारूप पितृयज्ञ, इत्यादि यज्ञों में तुम्हें प्रमाद नहीं करना चाहिये, इसी बात का आगे आचार्य्य यह विवरण करते हैं कि तुम माता देवता वाले बनो, पिता देवता वाले बनो और आचार्य्य अतिथि देवता वाले बनो, इस

---

* यहां भीमसेन भी अपने उपनिषद् भाष्य में पितृ कर्म्म जीते पितरों की सेवाही बतलाता है, जो अब जीते पितरों का पितृ कर्म्म कहना गाली देना समझता है ॥

प्रमाणसे स्पष्ट होजाता है कि औपनिषद समय में लोग पितृयज्ञ जीते पिता माता की सेवा को ही मानते थे। जब जीते आचार्य्य और अतिथि का सहचार है तो किसका सामर्थ्य है कि उक्त उपनिषद् को मृत पितरों के श्राद्ध में लगावे। स्वामी शङ्कराचार्य्यादि सब आचार्य्यों ने यहां पितृ-कर्म्म का अर्थ जीते पितरों की सेवा का ही किया है। यदि कोई यह शङ्का करे कि इस पितृकर्म्म को श्राद्ध नहीं कह सकते क्योंकि यहां श्राद्ध का नाम नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि यहां इसी प्रकरण में "**श्रद्धया देयम्**" "देयम्" यह शब्द है, जिससे श्राद्ध कर्म्म स्पष्ट पाया जाता है, और यदि श्राद्ध शब्द के आने से ही श्राद्ध कर्म्म का बोध वादी माने तो जितने वैदिक मन्त्र वादी लोग श्राद्ध में प्रमाण देते हैं उनमें कहीं भी श्राद्ध शब्द नहीं, फिर उनको मृतक श्राद्ध बोधक कैसे मानाजाय?।

हम यहांतक दृढतासे कहते हैं कोई वादी आजतक वेद संहिताओं से मृतकश्राद्ध शब्द नहीं निकाल सका, फिर जीवित पितरों का श्राद्ध मानने वालों पर कैसे यह आक्षेप हो सकता है कि "जीवितों का श्राद्ध कहना एक प्रकार की गाली देना है" देखो आ० सि० अं० ११ भा० २ में। पं० भीमसेन यह कहते हैं कि "जीवितों की सेवा का नाम श्राद्ध है, ऐसा स्पष्ट लेख मूल संहिताओं में दिखावें, जबतक न दिखावें तब तक हमारा यह कथन सत्य रहेगा कि जीवितों का श्राद्ध कहना, मानना वेद विरुद्ध है" आ० सि० ११।२ भी० से०। हम यहां वादी से यह पछते हैं कि जो आप जीवितों के श्राद्ध को वेदविरुद्ध बतलाते हैं, कहिये वह कौन से वेद का कौनसा मन्त्र है, जिससे जीवितों का श्राद्ध मानना वेदविरुद्ध है और जो आपने इस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि हम ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद तुल्य मानते हैं उन से विरुद्ध होने से वेदविरुद्ध है, तब भी तो ब्राह्मणग्रन्थविरुद्ध हुआ न कि वेदविरुद्ध, और हमने तो ऐतरेय ब्राह्मण से पितृकार्य्य श्राद्ध को

जीवितपितृविषयक सिद्ध कर दिया, फिर ब्राह्मण ग्रन्थ विरुद्ध जीवित श्राद्ध कर्म्म कैसे ? यदि कहा जाय कि कई एक स्थल ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे हैं जिनसे यह जीवितों का श्राद्धबोधक लेख विरुद्ध है तो क्या ब्राह्मण ग्रन्थों में भी परस्पर विरोध है ? ।

आपतो आज ब्राह्मण ग्रन्थों के अनन्य भक्त बने हैं पर इस भक्ति से यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि जो२ बातें ब्राह्मण ग्रन्थों से अविरुद्ध हैं वही वेदविरुद्ध हैं । देखो प्रलयकाल में इस डूबती हुई पृथ्वी को मच्छ के सींग के साथ बांध कर बचालेना ब्राह्मण ग्रन्थ विरुद्ध नहीं पर ऐसी गप्पें वेदविरुद्ध हैं । यज्ञ में पशुओं को मारकर पुरुषोत्पत्ति मानना वेद विरुद्ध है । **मुग्धादिवा उत शुनायजन्त** अथर्व । ७ । १। ५ इसमें पशुओं से यज्ञ करने का खण्डन किया है। पर ब्राह्मण ग्रंथ विरुद्ध नहीं एवं सहस्रों बातें हैं जिनके संशय में आकर आपभी वेदों की शरण लेते हैं फिर वेदों का आश्रय लेकर जीवित श्राद्ध वेदविरुद्ध क्यों बतलाते हो? ।

आप से क्या कहें, आप तो " **संशयात्मा विनश्यति** " इस वाक्य के अनुकूल संशयरूपी नौकापर सवार हैं, न इसपार हैं न उसपार। आपने आर्य्यसिद्धान्त पर अनन्त पोथे लिख मारे पर आप के सिद्धान्त का अन्त स्वयं आप ने भी नहीं पाया। यावदायुष साध्य कोटि और विचारकोटि को ही कूदते रहे, अब हम उन वादियों से कहते हैं जो निश्चयात्मा हैं और मनु आदि ग्रंथों की शरण लेकर आर्य्य लोगों के इस सिद्धान्त को शिथिल बतलाते हैं कि जीवितों का श्राद्ध कर्म्म नहीं होता,श्राद्ध मुर्दों का ही होता है। प्राचीन सूत्र स्मृतियों में सर्व स्थान, मुर्दों का ही श्राद्ध लिखा है। इस का उत्तर यह है कि जिन स्मृतिसूत्रों के प्राचीनत्व पर मोहित होकर आप अपना वैदिक

विश्वास गिराते हैं, उन ग्रन्थों में भूत प्रेतादि योनियों की कथाएं विद्यमान हैं। कहीं ऐसा भी है कि किसी को भूत ने ग्रसा, किसी ने किसी को शाप देकर मार डाला, कहीं कहीं उन ग्रंथों में यज्ञों में यज्ञमूर्ति विधान है, कहीं२ असम्भव अनुष्ठान हैं, बहुत क्या कहें सहस्रों अविद्या की बातें उन ग्रन्थों में ऐसी हैं जिनके नाम से तुम भी भागोगे। फिर क्या कारण जो तुम्हें उन ग्रन्थों का श्राद्ध ही मीठा लगता है और सहस्रों बातें उन ग्रन्थों की तुम को ऐसी कड़वी लगती हैं जिनका तुम नाम भी नहीं लेते। फिर कैसे यह कहा जा सक्ता है कि उन ग्रन्थों की प्रत्येक बात वैदिक है। यदि वैदिक होने का अभिमान है तो वेदों से हमारे उक्त मन्तव्य का खण्डन करो, और जो यहां यह शङ्का की जाती है कि वेदों में किसी बात की साफ़२ विधि नहीं तो मृतक श्राद्धों का स्पष्ट कथन हम कैसे दिखलावें। इसका उत्तर यह है कि वेदों में मुख्य२ सिद्धान्त सब स्पष्ट हैं, जैसे-१ निराकारेश्वरोपासना स्पष्ट, २ जीवेश्वर का भेद स्पष्ट, ३सत्यादि धर्मों के पालन की विधि स्पष्ट ४ विवाह में एक स्त्री विधान की विधि स्पष्ट। ऐसे अनन्त विषय हैं जो वेदों में स्पष्ट रीति से वर्णन किये गए हैं। फिर क्या आप का मृतक श्राद्ध ही ऐसा तुच्छ था जिसका वेद भगवान् वर्णन न करते, जिस श्राद्ध को वादी ऐसा मुख्य कर्म्म मानते हैं, जिस विषय में उन की मति में प्राचीन ग्रन्थकारों ने सहस्रों पत्र काले किये हैं फिर क्या कारण जो ऐसे मुख्य विषय में वेद उदासीन हैं

हमारी सम्मति में तो इस से बढ़कर अनुपलब्धि प्रमाण क्या हो सक्ता है जो ऐसे मृतक श्राद्ध का वर्णन वेद में नहीं पाया जाता। और जो यह कहा जाता है कि फिर तुम्हारा जीवितों का श्राद्ध करना ही वेद ने जीवित कर्म्म लिखकर स्पष्ट क्यों न कर दिया, इसका उत्तर यह है कि हमारे पक्ष में तो सम्भव प्रमाण ही निर्णय करता

है कि जीवितों का ही श्राद्ध होता है, भोजनाच्छादनादिकों से मृतकों का श्राद्ध असम्भव है और हम वादी से यह पूछते हैं कि यह कहां लिखा हुआ है कि विवाह जीते का ही होता है, ब्रह्मचारी जीता ही होता है, संन्यास विधि जीते की ही है, वानप्रस्थ जीता ही होता है। * अब कहिये जिन के मत में सम्भव असम्भव का विवेक नहीं उन के लिये तो सभी सम्भव था। फिर वेद भगवान् ने विवाह के साथ जीवित शब्द क्यों न जोड़दिया, क्योंकि वादी के मत में विवाहादि कर्म्म मुर्दों के भी सम्भव हैं। जहां अब तुलसी शालिग्रामादि का विवाह है वहां मृतक का विवाहादिकर्म्म क्या असम्भव है? हमारे मत में तो सम्भव को निर्णायक समझकर श्राद्ध कर्म में जीवित कहने की आवश्यकता न थी, हां अन्त्येष्टि कर्म मृतकों का ही सम्भव था, वहां वेद ने मृतक स्पष्ट कह दिया॥

और जो ऐसे मन्द मति हैं की जीवित और मृतक शब्द आने से विना वैदिक कर्म्म का तत्व नहीं समझते, उनकी बुद्धि का ध्यान धर के यदि वेद भगवान् का लेख होता तो श्राद्ध के साथ अवश्य जीवित वा मृतक शब्द रहना चाहिये था, एवं मीमांसा करने से यह सिद्ध होता है कि श्राद्ध कर्म जीवित पितरों का ही होता है, फिर वादी का यह कथन कि "**मृतकोद्देश्य से किये जाने का नाम श्राद्ध है**" यह कथन आग्रह मात्र है।

(३९) मन्तव्य यहां पौराणिक भाव नहीं।

(४०)तप-वन पर्वतों में कुटी बनाकर परमेश्वर की प्रसन्नता के हेतु जितेन्द्रिय होकर जो अनुष्ठान किया जाता है सो तपस्या कहाती है।

---

*पं० भीमसेनने आ० सि० में इसी तर्कसे जीवित पितरों का श्राद्ध सिद्ध किया है॥

समीक्षा—यहां तप को फिर वन पर्वतों की ओर ले भागे, "सत्यं-तपः" इत्यादि औपनिषद तप तो त्यागा सो त्यागा पर यहां तो वादी गीता के तप का भी त्याग कर गए।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्ज्जवम् । ब्रह्मचर्य्यमहिंसाच शारीरं तप उच्यते ॥ अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्चयत्।स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं उच्यते ॥मनःतप प्रसादःसौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । मनसः शु द्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ गीता० अ० १७ श्लो० १४ । १५ । १६

उक्त श्लोकों का भाव यह है कि सत्पुरुषों की सेवा सत्कारादि से पूजन, पवित्र रहना, "ब्रह्मचर्य्य" स्त्री स्पर्शादि से रहित, रहना अहिंसा किसी प्राणी को पीड़ा न देना यह शरीर का तप कहलाताहै,किसी के दिल को न दुखाने वाला सत्य और प्यारा वाक्य और वेदादि सच्छास्त्रों का अभ्यास यह वाणी का तप कहलाता है। मन को प्रसन्न रखना "सौम्यत्व" क्रूर प्रकृति न रखना प्रयोजन मात्र बोलना मनको स्ववश रखना, सङ्कल्प शुद्ध रखना यह मनका तप कहलाता है।

उक्त तीनों प्रकार के तप में से वन पर्वतों का तप कौन हुआ, यदि वादी यह कहे कि उक्त तप वन पर्वतों में ही हो सक्ता है तो यही तो हम कहते हैं कि पौराणिक रीति से वादी ने उक्त "स्वाध्याय" वेदाध्ययन सत्यादि तप को वनवास देकर सब संसार को सत्य स्वाध्यायादि कर्म्मों से वञ्चित कर दिया।

इत्यार्य्यमन्तव्यप्रकाशेपौराणिकमन्तव्य निरासो नाम पञ्चमसमुल्लासः समाप्तः ॥

ओ३म्

अथ स्वमन्तव्यप्रकाशोनाम षष्ठः समुल्लासः प्रारभ्यते

यहां सत्य धर्म्मानुरागियों से यह प्रष्टव्य है कि पूर्वोक्त पौराणिक दृश्य पर दृष्टि डालने से किसका हृदय दुःखित नहीं होता कि जहां ऋषियों के ब्रह्मचर्य्य, स्वाध्यायादि अनन्त वैदिक "तप" थे वहां आज वन, पर्वत और घाटों के किनारों के केवल दम्भ मात्र के तप रह गये हैं। जहां "मातृदेवो भव पितृदेवो भव" इत्यादि अनुपम औपनिषद् व्याख्यानों से वर्णित श्रद्धाभक्तियुक्त माता पिताओं की सेवा की जाती थी, वहां आज नाम के श्राद्ध मृतकोद्देश्य से किये जाते हैं, जहां एक अद्वितीय ब्रह्मवाद भारतभर का एक मात्र भरोसा था, न केवल भारतभर अपितु वैदिक मात्र का मन्तव्य था। वहां आज ब्रह्मा इन्द्र गणेश देवी आदि अनन्त देव इस भारत वनको दावानल बनकर ईश्वरानुपासनारूप पापाग्नि से दग्ध कर रहें हैं, क्या आर्य्य सन्तान का ऐसे समय में यह कर्त्तव्य नहीं कि वह आर्य्यमन्तव्य रूपी सुधा छिड़ककर इस पापाग्नि को बुझावे ? क्या आर्य्य सन्तान का ऐसे समय में यह कर्त्तव्य नहीं कि वह स्वसिद्धान्तरूपी सूर्य्य से उक्त दावानल धूमाच्छन्न नयन पुरुषों के नेत्र खोलदे, जिससे पौराणिक तिमिर से निकल कर आर्य्य सन्तान स्वस्वनेत्रोन्मीलन करके स्वधर्म्म में आविद्यक लोगों के लगाए हुए कलङ्कों को देख सकें, जिससे श्रीरामचन्द्र श्रीकृ-

ष्णादि मर्य्यादा पुरुषोत्तम पुरुषों के पवित्र जीवन प्रतीत होने लगें। इस प्रतीति का फल यह हो कि लोग पौराणिक "कृष्णइज्म" कृष्ण दासत्व को छोड़ "यद्यदाचरति श्रेष्ठ" इत्यादि वाक्यों से सदाचारी कृष्ण के भक्त बनें। फिर यह आवश्यकता न रहेगी कि कृष्ण को ईश्वर बनाकर ही विहारलीलादि का मण्डन करें और उन में ईश्वर भाव का आरोप करके ही उन के आचार और जीवन को अलौकिक बनावें, वा येन केन प्रकार से अशास्त्रीय और सदाचारमर्य्यादा से पतित बातों को सिद्ध करने में ही जन्म बितावें। यह सब सम्भावना तब की जासकती है जब सब मिलकर एक मात्र वेद की शरण आवें॥

इस प्रकार मिथ्यार्थरूपी तिमिर त्याग से ही यह कल्याण का मार्ग लब्ध हो सकता है, तभी शास्त्रों का सामञ्जस्य होता है, तभी पौराणिक अर्थवादरूपी सागर से भारत सन्तान का बेड़ा पार हो सकता है, तभी भारत का सुधार हो सकता है, तभी सदसद् विचार हो सकता है, तभी एक मात्र ब्रह्मोपासना का आधार हो सकता है।

अन्यथा ऐसे समय में क्या आशा है जब कि दूध दधि घृत मंदिरादि के समुद्र माननेवाली भारतसन्तान है, सोने के मेरु पहाड़ के चारों ओर सूर्य्य के रथ का घूमना मानने वाली भारतसन्तान है, उक्त मेरु शिखरपर स्वर्ग माननेवाली भारतसन्तान है, पाताल में नरककुण्ड माननेवाली भारतसन्तान है, शेषनाग के शिरपर पृथिवी माननेवाली भारतसन्तान है, जिस को सत्यार्थनिरूपक शास्त्र छोड़कर उक्त मिथ्या गपोड़ों पर ही अभिमान है।

इस अवस्था में जब महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह विचारा कि यह क्या? कहां वेदों का वह मन्तव्य जिन में अनृत का नाम न था॥

"सत्यञ्च मे श्रद्धा च मे" यजु० १८।५ इत्यादि मंत्रों से सत्य का आश्रय था, **"असन्नेव सभवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्"** तैत्तिरीय उ०नि० ब्रह्मवल्ली। अर्थ—वहस्वयं नाश हो जाता है जो असत् ब्रह्मको मानता है इत्यादि उपनिषद् वचनों से जड़ पूजा का निषेध था, जब देखा कि अब पार्थिवाकार बनाकर असद् ब्रह्म इस भारत में पूजा जा रहा है, और ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, देवी, देवता, गणेश आदि भिन्न२ देवता ईश्वर माने जाते हैं। **"येन द्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढा"** यजु० ३२। ६ इत्यादि विशेषणों वाले एक मात्र देव की पूजा भारत में नाममात्र भी नहीं रही! **"तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"** ऋ० १। ७२। ७। इस वैदिक मन्तव्य को लोग नहीं मानते। उक्त व्यापक विष्णु के पद को भूलकर जड़ देवी देवताओं के पांव पूजे जा रहे हैं और विष्णु के उस परमपद की कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं की जाती, जो पद आर्य्यसन्तान को भवसागर से पारकरने का एक मात्र हेतु था, यह वह पद है जिसको पौराणिकसमय के भाष्यकार भी सिर झुकाते हैं, सायण, महीधर, शङ्कर, रामानुजादि सब आचार्य्यों ने इस उच्चपद को **उल्लङ्घन** नहीं किया। महीधर कहता है कि वेद पारग विद्वान् उस विष्णु के **"पद"** स्वरूप को रुकावट के बिना आकाश में व्याप्त चक्षु के सम व्यापक देखते हैं। सायण कहता है कि जैसे बिना रुकावट चक्षु आकाश में साफ देखता है इस प्रकार विद्वान् लोग शास्त्र दृष्टि से उस शास्त्र प्रसिद्ध पद को देखते हैं। उपनिषद् भाष्य में कठ १।३। शङ्कर कहता है कि **'पदम्'** के अर्थ व्यापक ब्रह्म के हैं। अत्राधिकरण में वैदिक लोगों की मुक्ति वर्णन करता हुआ रामानुज यह कहता है कि वह विष्णु पद मोक्षरूप है। उपनिषद्कार ने कठोपनिषद् में **"सोध्वनः परमाप्नोति तद्-**

विष्णोःपरमंपदम्" इस वाक्य में नचिकेता को ब्रह्म विद्या का उपदेश करते हुए गुरु ने विष्णु के परमपद से विष्णु व्यापक ईश्वर की प्राप्ति का आशय स्पष्ट कर दिया है।

एवं विष्णु पद जो वेद के आशय से शास्त्र द्रष्टा ज्ञानी लोगों के लिये आकाश में निरावरण चक्षु के दृश्य के सम स्पष्ट दृष्ट पड़ता था, अर्थात् ज्ञान दृष्टि से देखा जाता था। जब उस परम पद को पाषाणमय कल्पना करके भारत सन्तान उसके पैर धोकर पीने लगी।

और आश्रय यह लिया कि "**इदं विष्णुर्विचक्रमे**" इस वेद मन्त्र में उस निराकार परमात्मा के तीन पैर कथन किये गए हैं "**वामनंरूपमास्थाय त्रैलोक्यंविक्रमैः स्वकैः बलेर्ग्रहीतं तं बध्वा तस्मै ब्रह्मात्मने नमः**"

जिस परमात्मा ने वामनरूप धारण करके वलि राजा को बांधकर तीनों लोक जीते ऐसे ब्राह्मण रूप के लिये नमस्कार है।इस प्रकार के वेद विरुद्ध श्लोकों से वेद का आशय अन्यथा वर्णन करने लगे और साथ ही इस बात की भी सहायता लेने लगे कि सायण महीधरादि आचार्य्यों ने उक्त मंत्र के भाष्य में वामनावतार की सूचना दी है। तब भारत सन्तान के उद्धार कर्ता श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने उस विष्णु पद पर आरूढ़ करने के लिये भारतसन्तान का बेड़ा इस भवसागर से पार करने के लिये उक्त विष्णु पद में मूर्त्तिपूजादि अविद्या तिमिर का तिरस्कार करने के लिये और सत्य वेदार्थ का पुनः प्रचार करने के लिये एक मात्र भारतसन्तान का उद्धार करने के लिये निम्न लिखित आर्य्य मन्तव्यों का प्रकाश किया है।

१--प्रथम "**ईश्वर**" कि जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है जिसके गुण कर्म्म स्वभाव पवित्र

हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान् दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता,धर्त्ता, हर्त्ता सब जीवों को कर्मानुसार सत्यन्याय से फल दाता आदि लक्षण युक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूं ॥

२-- चारों " **वेदों** " (विद्या धर्मयुक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मंत्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूं वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं और चारों वेदों के ब्राह्मण, छ अङ्ग, छ उपाङ्ग, चार उपवेद और ११२७(ग्यारहसौ सत्ताईस)वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महार्षियों के बनाये ग्रंथ हैं उन को परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण, और जो इन में वेद विरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं ॥

३—जो पक्षपातसहित, न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त, ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको "धर्म्म " और जो पक्षपातरहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा भंग वेद विरुद्ध है उसको "**अधर्म्म**" मानता हूं ॥

४--जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादिगुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को " **जीव**" मानता हूं ॥

५--जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न, और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था न है,न होगा और न कभी एक था न है न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त मानता हूं ॥

६--"**अनादि पदार्थ**" तीन हैं एक ईश्वर,द्वितीय जीव,तीसरा

प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण इन्हीं को नित्य भी कहते हैं जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण कर्म्म स्वभाव भी नित्य हैं ॥

७—" **प्रवाह से अनादि** " जो संयोग से द्रव्य गुण कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिस से प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उन में अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा, तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूं ॥

८—"**सृष्टि**" उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्ति पूर्वक मेल होकर नानारूप बनना ॥

९—"**सृष्टिका प्रयोजन** " यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण कर्म्म स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसीने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं ? उसने कहा देखने के लिये, वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्म्मों का यथावत् भोगकरना आदि भी ॥

१०—" **सृष्टिसकर्तृक** " है इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का " **कर्त्ता** " अवश्य है ॥

११—" **बन्ध** " सानिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्त से है जो २ पाप कर्म्म ईश्वराभिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःख फल करनेवाले इसीलिये यह " **बन्ध** " है कि जिस की इच्छा नहीं, और भोगना पड़ता है ॥

१२—"**मुक्ति** " अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बंध रहित सर्वव्यापक ईश्वर और उस की सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना नियत समय पर्य्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना ॥

१३– " **मुक्ति के साधन** " ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्म्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य्य से विद्या प्राप्ति आप्तविद्वानों का संग, सत्य विद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं ॥

१४— " **अर्थ** " वह है कि जो धर्म्म ही से प्राप्त किया जाय, और जो अधर्म्म से सिद्ध होता है उस को अनर्थ कहते हैं ॥

१५— " **काम** " वह है कि जो धर्म्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय ॥

१६–' **वर्णाश्रम** " गुण कर्म्मों की योग्यता से मानता हूं ॥

१७— " **राजा** " उसी को कहते हैं जो शुभगुण कर्म्म स्वभाव से प्रकाशमान पक्षपात रहित, न्याय धर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते, और उन को पुत्रवत् मानके उन की उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे ॥

१८— " **प्रजा** " उस को कहते हैं कि जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके पक्षपात रहित न्याय धर्म्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राज विद्रोह रहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते ॥

१९— जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे सो " **न्यायकारी** " है उस को मैं भी ठीक मानता हूं ॥

२०— " **देव** " विद्वानों को, और अविद्वानों को "**असुर**" पापियों को " **राक्षस** " अनाचारियों को " **पिशाच** " मानता हूं ॥

२१— उन्हीं विद्वानों माता, पिता, आचार्य्य, अतिथि, न्या-

यकारी, राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री, और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना "**देवपूजा**" कहाती है इससे विपरीत अदेव पूजा। इन की मूर्त्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं॥

२२— "**शिक्षा**" जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं॥

२३— "**पुराण**" जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मणपुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा, और नाराशंसी नाम से मानता हूं अन्य भागवतादि को नहीं॥

२४— "**तीर्थ**" जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभकर्म है उन्ही को तीर्थ समझता हूं इतर जलस्थलादि को नहीं॥

२५— "**पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा**" इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिस के सुधरने से सब सुधरते और जिस के बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है॥

२६—"**मनुष्य**"को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूं॥

२७—"संस्कार" उस को कहते हैं कि जिस से शरीर मन और आत्मा उत्तम होवें, वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है इस को कर्त्तव्य समझता हूं और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये॥

२८—" यज्ञ " उस को कहते हैं कि जिस में विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या उस से उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान अग्निहोत्रादि जिन से वायु वृष्टि जल औषधि की पवित्रता कर के सब जीवों को सुख पहुंचाना है उस को उत्तम समझता हूं ॥

२९---जैसे " आर्य्य " श्रेष्ठ और " दस्यु " दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसेही मैं भी मानता हूं ॥

३०—" आर्य्यावर्त्त " देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इस में आदि सृष्टि से आर्य्य लोग निवास करते हैं, परन्तु इस की अवधि, उत्तर में हिमालय, दक्षण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक, और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है इन चारों के बीच में जितना देश है उस को आर्य्यावर्त्त कहते हैं और जो इन में सदा रहते हैं उनको भी आर्य्य कहते हैं ॥

३१—जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह "आचार्य्य " कहाता है ॥

३२--" शिष्य" उस को कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्म्मात्मा विद्या ग्रहण की इच्छा और आचार्य्य का प्रिय करने वाला है ॥

३३--" गुरु " माता, पिता, और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी गुरु कहाता है ॥

३४--" पुरोहित " जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे

३५--"उपाध्याय"जो वेदों के एक देश वा अंगों को पढ़ाता है॥

३६--" शिष्टाचार " जो धर्म्माचरण पूर्वक ब्रह्मचर्य्य से विद्या ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय कर के सत्य

का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार और जो इस को करता है वह शिष्ट कहाता है ॥

३७-- "प्रत्यक्षादि " आठ प्रमाणों " को भी मानता हूं ।

३८--" आप्त "जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है उसी को आप्त कहता हूं ॥

३९--" परीक्षा " पांच प्रकार की है इस में प्रथम जो ईश्वर उस के गुणकर्म स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यौहार,और पांचवीं, अपनी आत्मा की पवित्रता, विद्या,इन पांच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय कर के सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये ॥

४०--" परोपकार " जिस से सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े उस के करने को परोपकार कहता हूं ॥

४०--" स्वतन्त्र " " परतन्त्र " जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्म्म फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतंत्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतंत्र है ॥

४२--" स्वर्ग "नाम सुख विशेष भोग और उस की सामग्री की प्राप्ति का है ॥

४३--"**नर्क**" जो दुःख विशेष भोग, उसकी सामग्री का प्राप्त होना है ॥

४४--"**जन्म**" जो शरीर धारण कर प्रगट होना है सो पूर्वापर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं ॥

४५--शरीर के संयोग का नाम "जन्म" और वियोग मात्र को मृत्यु कहते हैं ॥

४६--"**विवाह**" जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छ

करके पाणिग्रहण करना वह विवाह कहाता है ॥

४७-"**नियोग**" विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा आपत्काल में पुरुष स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना॥

४८—"**स्तुति**" गुणकीर्त्तन, श्रवण और ज्ञान होना इसका फल प्रीति आदि होते हैं ॥

४९—"**प्रार्थना**" अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञानादि प्राप्त होते हैं उनके लिये ईश्वर से याचना करना और उसका फल, निरभिमान आदि होता है ॥

५०—"**उपासना**" जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय, योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है। इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है ॥

५१—"**सगुण निर्गुण स्तुति प्रार्थनोपासना**" जो २ गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो २ गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना सगुण निर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना, सगुण निर्गुण प्रार्थना और सब गुणों से सहित सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपनी आत्मा को उसके, और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुण निर्गुणोपासना कहाती है ॥

इतिश्री आर्य्यमन्तव्यप्रकाशे स्वमन्तव्य-प्रकाशो नाम षष्ठः समुल्लासः समाप्तः

ग्रन्थश्चायं समाप्तः